

• श्रीश्रीगुरुराज्ञी जयतः •

✽	स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरघोक्षजे ।	✽
धर्मः स्तुष्टिः पुंसां विष्णुक्तेन कथासुः यः		नोत्सादयेत् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥
✽	अहेतुधर्मप्रतिहता ययात्मासुप्रसीदति ॥	✽

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अघोक्षज की अहेतुकी विष्णुशून्य प्रति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बंधनकर ॥

वर्ष ६

गौराब्द ४७८, मास—विष्णु १६, वार—सङ्कर्षण
सोमवार, ३० चैत्र, सम्बत् २०२१, १३ अप्रेल १९६४

संख्या १०-११

श्रीश्रीगौराङ्ग-स्मररामङ्गल-स्तोत्रम्

[श्रीश्रील ठाकुर भक्तिविनोद-कृत]

यस्यानुकंपा सुखदा जनानां संसारकूपाद्ब्रधुनायदासम् ।
उद्धृत्यगुञ्जाः शिलया ददौ सा तं गौरचन्द्रं प्रणमामि भक्त्या ॥६४॥
सद्भक्तिसिद्धान्तविहृदवाहान् बंदरस्य भावांश्च बहिर्मुक्तानाम् ।
सङ्ग विहायाय सुभक्तगोष्ठ्यां रराज यस्तं प्रणमामि गौरम् ॥६५॥
नामानि विष्णोर्बहिरङ्गपात्रे विस्तीर्य लोके कलिपावनोऽभूत् ।
प्रेमान्तरङ्गाय रसं ददौ यस्तं गौरचन्द्रं प्रणमामि भक्त्या ॥६६॥
नामापराधं सकलं विनाश्य चेतन्यनामाश्रित मानवानाम् ।
भक्तिं परां यः प्रददौ जनेभ्यस्तं गौरचन्द्रं प्रणमामि भक्त्या ॥६७॥

इत्थं लीलामयवरवपुः कृष्णचैतन्यचन्द्रो वर्षान् द्विदादशपरिमितान् क्षेपयामास गाह्यं ।

संन्यासे वै समपरिमितं यापयामास कालं बन्दे गौरं सकलजगतामाश्रमाणां गुरुं तम् ॥६८॥

दरिद्रेभ्यो वस्त्रं धनमपि ददौ यः करुणया बुभुक्षुन् योन्नाद्यं रतिथिनिचयान् तोषमनयत् ।
 तथा विद्यादानैः सुखमंतिशयं यः समभजत् स गौराङ्गः शश्वत् स्मरणपदवीं गच्छतु मम ॥६९॥
 संन्यासस्य प्रथमसमये तीर्थयात्राच्छलेन वर्षान् यो वै रसपरिमितान् व्याप्य भक्तिं ततान् ।
 शेषानद्वान् वसुविधुमितान् क्षेत्रदेशेस्थितो यः वन्दे तस्य प्रकटचरितं योगमायाबलाढ्यम् ॥१००॥
 हाहा कष्टं सकलजगतां भक्तिभाजां विशेषं गोपीनाथालयपरिसरे कीर्तने यः प्रदोषे ।
 अप्राकृत्यं वतसमभजन् मोहयन् भक्तजनं वन्दे तस्याप्रकटचरितं नित्यमप्राकृतं तत् ॥१०१॥
 भक्ता ये वै सकलसमये गौरगाथामिमां नो गायन्त्युर्ध्वं विगलितहृदो गौरतीर्थे विशेषात् ।
 तेषां तूर्णं द्विजकुलमणिः कृष्णचैतन्यचन्द्रः प्रेमावेशं युगलभजने यच्छति प्राणबन्धुः ॥१०२॥
 षट् रववेदप्रभे शाके कार्तिके गोब्रुमे प्रभोः ।
 गीता भक्तिविनोदेन लीलेयं लोकपावनी ॥१०३॥

यत्प्रेममाधुर्यं विलासरागाध्रन्दात्मजो गौडविहारमाप ।

तस्य विनिश्चा नृषभानुपुष्पं नीनामगा तस्य समपित्त्यम् ॥१०४॥

इति श्री श्रीलठक्कुर भक्तिविनोद विरचितं श्रीश्रीगौराङ्ग-स्मरण
 —मङ्गलस्तोत्रम् समाप्तम् ।

अनुवाद—

‘गुञ्जा माला’ ‘गिरि शिला’ कर करुणा विस्तार ।
 दई दास रघुनाथ कौं प्रभु भव कूप उवार ॥६४॥
 भक्तिविरोधी वाद प्रभु तजे धिरस रस भास ।
 कियौ विमुख जन सङ्ग तज भक्त मण्डली वास ॥६५॥
 देख लोक बहिरङ्ग प्रभु करत दान हरिनाम ।
 दियौ अन्तरङ्गन सुखद प्रेम सकल रसधाम ॥६६॥
 सकल नाम अपराध तज जब सुमिरै हरिनाम ।
 तवै नाम फल लहत है नातर होत न काम ॥
 गौर नाममें होत नहीं कछू नाम अपराध ।
 मिलत भक्तिरस सुलभही किय कलि जन सुख साध ॥
 सुमरन कीजै गौरहरि अन्य साधना छोड़ ।
 मधुसूदन विनती यही करत सदा करजोड़ ॥६७॥

रहे बरस चौबीस प्रभु गृह आश्रमके माँहि ।
 संन्यासाश्रम तिते दिन कृष्ण प्रेम अकुलौहि ॥६८॥
 दिये दरिद्रन वसन धन अन्नबुभुक्षुन दीन ।
 विद्यार्थिन विद्या दई भक्ति दास निज चीन ॥६९॥
 संन्यासाश्रम गृहण कर छै वत्सर निरधार ।
 तीरथ यात्रा छल कियौ प्रेम भक्ति बिस्तार ॥
 बरस अठारह रहें प्रभु श्रीनीलाचल धाम ।
 प्रकट वर्ष वसुवेद (४८) प्रभु दान कियौ हरिनाम ॥१००॥
 मन्दर गोपीनाथके संकीर्तन आनन्द ।
 तिरोधान सन्ध्या समय कियौ परम स्वच्छन्द ॥
 भक्त जननके नयन सब भये नष्ट से हाथ ।
 गौर विरह व्याकुल जगत गति कछु कही न जाय ॥
 लीला अप्राकृत दीऊ प्रकट अप्रकट जान ।
 निस्थ विराजत गौरहरि वेद शास्त्र परमान ॥१०१॥
 गौर भक्त गावैं सदा 'श्रीगौराङ्ग विलास' ।
 गायौ भक्तिविनोदने गौर चरित यह आस ॥
 गौर चरित जे गावहीं कलि तरिवे के हेत ।
 तिनै गौर प्रभु 'प्रेम पर' "जुगल भजन रुचि देत" ॥१०२॥
 कार्तिक रसनभ वेद मित गौर अब्द परमान ।
 श्रियुत भक्तिविनोदने गोपू न भवि किय गान ॥१०३॥
 थासु भाव माधुर्य बस श्याम गौर तन लीन ।
 लीला तिन 'वृषभानु जा' धरन समर्पन कीन ॥
 गुण शर नव धरणी प्रमित पूष धवल तिथि चन्द ।
 मधुसूदन अनुवाद कर विरचौ दोहा छन्द ॥१०४॥

—परलोकगत पण्डित मधुसूदनदास गोस्वामीकृत

प्रश्नोत्तर

(गताङ्क से प्रागे)

विद्वोपदेशक या आचार्यब्रुव

प्र०—निरीश्वर कर्मोपदेश करनेवाले परिष्ठतों का विचार और व्यवहार कैसा होता है ?

“सर्वद्रष्टा और कर्मफलदाता चैतन्यस्वरूप ईश्वरका ही जब अस्तित्व नहीं है, तब बुरे कर्मोंके लिये और किस बातका भय है ? केवल इसी विषयमें सावधान रहो कि तुम्हारे दुष्कर्मोंको दूसरे जान न पायें । दूसरोंके जाननेसे अपयश, राजदण्ड और औरअसदनुकरणरूप उपद्रव अवश्य ही होगा । इससे अपने आप या संसार कोई सुखी नहीं बन सकता । जान पहता है कि निरीश्वर कर्मोपदेशा परिष्ठतोंके चरित्रको विशेषरूपसे अनुसन्धाग करनेसे ऐसा ही व्यवहार लक्षित होगा ।”

त. वि, १म अनु. ६-१२ ।

प्र० २—भद्राहीन व्यक्तिको हरिनाम या दीक्षा देना क्या सद्गुरुके लिये उचित है ?

“जो दक्षिणाकी झालझामे भद्राहीन व्यक्तिको हरिनाम देते हैं, वे हरिनाम-विक्रयी हैं । अति तुच्छ विनिमयके लिये अमूल्य रत्नको नष्ट करते हुए आप भी हरिभजनसे न्युन होने हैं ।”

प्र० ३—गुरुत्यक्त संन्यासीब्रुव क्या आचार्य हो सकते हैं ?

चै. शि. ३।४

“रामचन्द्रपुरी माधवेन्द्रपुरीके शिष्य थे । परन्तु शुष्क ज्ञानी सम्प्रदायका सङ्ग करनेके कारण उन्होंने दूषित सिद्धान्तोंको अपनाकर अधर्म-उपदेश किया । ऐसा देखकर पुरी गोस्वामीजीने अपराधी समझकर घनका वर्जन किया । तभीसे परनिन्दा, परदोषानु-

सन्धान शुष्क-ज्ञानोपदेश आदि निन्दनीय कार्य करनेके कारण शुद्ध वैष्णवोंके द्वारा उपेक्षित हुए ।”

अ. प्र. भा. अ ८

प्र० ४—विद्व और शुद्ध आचार्योंके सिद्धान्त क्या एक ही हैं ?

“वेद और वेदान्तकी आलोचनापूर्वक आचार्यों ने दो प्रकारके सिद्धान्त स्थिर किये हैं । दत्तात्रेय, अष्टावक्र, दुर्वासा आदि ऋषियोंके अनुगत सिद्धान्त को लेकर श्रीमद् शंकराचार्यने केवलाद्वैत-मतका प्रचार किया है । यही पहला सिद्धान्त है । नारद, प्रह्लाद, ध्रुव, मनु आदि महात्माओंके अनुगत सिद्धान्तको लेकर वैष्णवाचार्योंने शुद्धभक्ति तत्त्वका प्रचार किया है । यही दूसरा सिद्धान्त है ।”

—श्रीम. शि. ६ म. प.

सत्-सम्प्रदाय

प्र० ५—सत्-सम्प्रदाय प्रणाली सनातन है अथवा अर्थाचीन ?

“सम्प्रदाय - व्यवस्था नितान्त प्रयोजनीय है, अतएव आदिकालसे ही साधु-पुरुषोंमें सत्-सम्प्रदाय की प्रणाली चली आ रही है ।”

—जै. ध. १३वाँ अ.

प्र० ६—किन्होंने विशुद्ध मत स्वीकार किया है ?

“जिन्होंने ब्रह्मासे गुरु परम्पराक्रमसे उस वेद-संज्ञिता वाणीका प्रकृत अनुव्याख्यानादि प्राप्त किया है, उन्होंने ही विशुद्ध मतको स्वीकार किया है । दूसरे सभी मतभेदके कारण नाना प्रकारके पाषण्ड-मतावलम्बी हो पड़े हैं ।”

— श्रीम. शि. २ रा. प.

प्र० ७—श्रीचैतन्य महाप्रभुके दासोंकी गुरुप्रणाली क्या है ? कौन उनके प्रधान शत्रु हैं ?

“श्रीब्रह्म-सम्प्रदाय ही श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभुके अनुगत व्यक्तियोंकी गुरु-प्रणाली है। श्रीकविकर्णपूर गोस्वामीने इसीके अनुसार स्व-रचित ‘गौरगणोद्देश-दीपिका’ में सुदृढ़रूपसे गुरु-प्रणालीका क्रम लिखा है। वेदान्तसूत्रके भाष्यकार श्री बलदेव विद्याभूषण-ने भी इसी प्रणालीको स्वीकार किया है। जो इस प्रणालीको अस्वीकार करते हैं, वे श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके चरणानुचरोंके प्रधान शत्रु हैं।”

श्रीम. शि. २ रा प.

प्र० ८—कलिके गुप्तचर कौन हैं ?

“श्रीकृष्णचैतन्य-सम्प्रदायको स्वीकार करते हुए जो गुप्तरूपसे गुरुपरम्परा - सिद्ध प्रणालीको नहीं मानते, वे ही कलिके गुप्तचर हैं।”

श्रीम. शि. २ रा प.

प्र० ९—भविष्यमें भक्ति-तत्त्वमें किस सारवत-सम्प्रदायका एकमात्र अस्तित्व रहेगा ?

“कुछ समयके पश्चात् भक्तितत्त्वमें जो एकमात्र सम्प्रदाय रहेगा, वह श्रीब्रह्म-सम्प्रदाय है। दूसरे सभी सम्प्रदाय इसी ब्रह्म-सम्प्रदायमें मिल जायेंगे।

प्र० १०—वैष्णव सम्प्रदायोंके मतोंमें परस्पर भेद क्यों हैं ?

“सभी सम्प्रदायोंके वैष्णवोंका एक ही मत है। केवल छुद्र-छुद्र विषयोंमें कुछ-कुछ मतभेद है। सभी वैष्णव ही जीवको तत्त्वतः ईश्वरसे भिन्न तत्त्व मानते

हैं। सभी वैष्णवाचार्योंने भक्ति मार्गका ही अवलम्बन किया है।”

—प्रे. प्र. ६ ठा अध्याय

प्र० ११—सम्प्रदाय प्रणाली जीवोंके लिये क्या अहितकर है ?

“सम्प्रदाय-प्रणाली जीवोंके लिये कल्याणकारी है। ❀❀ सम्प्रदायमें प्रवेश करनेसे साधु-पदाभय, सद्धर्म-शिक्षा, धर्मालोचना और युक्तवैराग्य अना-यास ही प्राप्त किया जा सकता है। जबतक असम्प्र-दाय बुद्धि प्रबल रहेगी, तबतक जीवन भर भी तर्क वितर्क कर आत्म-प्रसाद पाया नहीं जा सकता। सम्प्रदायस्थ कोई-कोई व्यक्ति स्वार्थपर होकर कदाचार करते हैं। ऐसा देखकर सम्प्रदाय-प्रणाली की निन्दा करना मूर्ख लोगोंका ही कार्य है। सम्प्रदायमें प्रवेश पूर्वक सम्प्रदायको पवित्र करनेकी चेष्टा करना ही बुद्धिमत्तान व्यक्तिका कर्तव्य है। बाजारमें अच्छे वस्त्र अब समय पाये नहीं जाते और अनेक प्रकारकी कृत्रिमताका प्रचलन होता है। ऐसा देखकर बाजारका संस्कार करनेकी आवश्यकता है न कि बाजार प्रणालीको ही उठा देनेकी आवश्यकता है। जो बाजार प्रणालीको ही उठा देना चाहते हैं उनकी किसी प्रकारसे भी प्रशंसा नहीं कर सकते। सम्प्रदायके प्राचीन आचार्यगण जगतका कल्याण करनेके लिये ही सम्प्रदायका निर्माण किया है।”

—‘सम्प्रदाय प्रणाली,’ स. तो ४१४

प्र० १२—सम्प्रदाय - विरुद्धमतकी कबसे सृष्टि हुई है ?

“इतिहासकी आलोचना करनेसे ऐसा जान पड़ता

ई कि इस पवित्र भारत क्षेत्रमें कभी भी सम्प्रदाय विरुद्ध मत नहीं था । जबसे पाश्चात्य परिदृष्टियोंके साथ भारतवासियोंका सम्पर्क हुआ है, तभीसे अनभिज्ञ व्यक्ति सम्प्रदाय विरोधी हो पड़े हैं ।”

—सम्प्रदाय-प्रणाली, स. तो. ४१४

प्र० १३—सम्प्रदाय प्रणालीमें दोष अधिक है, या गुण ?

“निरपेक्ष होकर विचार करने पर सम्प्रदाय प्रणालीमें दोषकी अपेक्षा अनेक अधिक गुण हैं । जिसमें अधिकांश गुण हैं, उसमें कुछ-कुछ दोष रहने पर भी वह परिदृष्टियोंके लिये आदरणीय है ।”

—सम्प्रदाय-प्रणाली, स. तो. ४१४

प्र० १४—क्या असम्प्रदायिक व्यक्ति स्व-कपोल कल्पित असत् साम्प्रदायिक नहीं हैं ?

“सम्प्रदायके विरोधी सम्प्रदायके विरुद्ध एक मत लेकर अपनेको ‘असम्प्रदायी’ समझते हैं । वे उसी मतवादको लेकर एक नये सम्प्रदायकी सृष्टि कहते हैं ।

—सम्प्रदाय-प्रणाली स. तो ४१४

प्र० १५—वैष्णव धर्म नित्य सिद्ध है, इसका क्या प्रमाण है ?

“वैष्णव धर्म जीवके साथ-साथ उदित हुआ है । ब्रह्माही प्रथम वैष्णव हैं । श्रीमन्महादेव भी वैष्णव हैं । आदि प्रजापतिगण भी सभी वैष्णव हैं । ब्रह्माके मानस पुत्र श्रीनारद गोस्वामी भी वैष्णव हैं ॐ इतिहासमें केवल विशेष यसस्वी वैष्णवोंके ही नामों का उल्लेख है । वस्तुतः प्रह्लाद और ध्रुवके समयमें और भी कितने ही वैष्णव थे किन्तु इनकी गणना

नहीं । ॐ चन्द्र-सूय वंशीय राजागण और उच्चकोटिके ऋषि मुनियोंमें अधिकांश विष्णुपरायण थे । सत्य, त्रेता, द्वापर-तीनों युगोंमें ही ऐसा उल्लेख है । कलिकालमें दक्षिण भारतमें श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीविष्णुस्वामी, एवं श्रीनिम्बादित्य स्वीमीने लाखों व्यक्तियोंको विशुद्ध वैष्णव धर्ममें दीक्षित किया था ।”

—जै. ध. १० म आ.

प्र० १६—वैष्णव धर्मकी परिस्फुटावस्थाका इतिहास क्या है ?

“वैष्णव धर्म—पद्मपुष्पकी तरह कालके साथ क्रमशः प्रस्फुटित हुआ है । पहले—कलिकाके रूपमें उदय होता है; तत्पश्चात् वह और भी विकसित होता है । क्रमशः पूर्णविकसित पुष्पकी तरह प्रकाशित होता है । ब्रह्माके समयमें श्रीमद्भागवतका चतुःश्लोकी-सम्मत भगवत्-ज्ञान, विज्ञान, भक्तिसाधन और प्रेम केवल अंकुररूपसे जीव-हृदयमें प्रकाशित था । प्रह्लादादिके समयमें कलिकाके आकारमें विकसित हुआ । क्रमशः बादरायण (व्यास) ऋषिके कालमें कलिका विकसित हुई एवं वैष्णव आचार्योंके समय पुष्पाकारमें परिणत हुआ । श्रीमन्महाप्रभुके आविर्भाव होने पर प्रेमपुष्प सम्पूर्ण विकसित होकर जगत-वासियोंके हार्द नासिकामें परम रमणीय सौरभ प्रदान करने लगा । श्रीवैष्णव धर्मका परम निगूढ भाव जो नामप्रेम है, उसीको श्रीमन्महाप्रभुने जगत् जीवोंको कृपापूर्वक दान किया है ।”

—जै. ध. १० म अ

प्र० १७—परमार्थ तत्त्व किस प्रकार क्रमशः स्पष्टीभूत और परिपक्व हुआ है ?

“परमार्थ-तत्त्व आदिकालसे लेकर आजतक क्रमशः स्पष्टीभूत, सरल और संक्षेप होता हुआ आ रहा है। देश-काल जन्य मलिनता उसमेंसे जितनी ही दूरीभूत होती जाती है, उसका सौन्दर्य उतना अधिक देदीप्यमान होकर हमारे सामने प्रकटित हुआ है। सरस्वती के तटपर ब्रह्मावर्चाकी कुशलय भूमिमें इस तत्त्वका जन्म हुआ था। क्रमशः बदरिकाश्रमके तृपारावृत भूतिमें बाल्यलीला किया। गोमती तटपर नैमिषारण्य क्षेत्रमें उनका पौगण्ड काल बीता। द्राविड देशमें कावेरी नदीके रमणीय कूलमें उसके यौवन कार्य देखे जाते हैं। जगत् पवित्र-कारिणी गङ्गाजीके तटस्थित नवद्वीप नगरमें इस धर्मकी परिपक्ववावस्था देखी जाती है।”

—उपक्रमणिका, कृ. स.

प्र० १८—सत्सम्प्रदाय—विशेषका आनुगत्य कैसे सूचित होता है ?

“शंकरके तर्कस्रोतमें भक्तिकुसुम भक्तचित्तरूपी स्रोतस्वती (नदी) में भासमान होकर अस्थिर था। किन्तु रामानुजाचार्यने शंकरके विचारोंका खण्डनकर भगवत् कृपासे शरीरक सूत्रके भाष्यान्तरकी रचना करते हुए पुनः वैष्णव तत्त्वके बलको बढ़ाया था। थोड़े ही दिनोंमें विष्णुस्वामी, निम्बादित्य, और मध्वाचार्यने भी वैष्णव-मतके कुछ-कुछ भिन्न आकार

की स्थापना करते हुए अपने-अपने मतानुसार शरीरक भाष्यकी अलग-अलग रचना की। किन्तु सभी शंकरके ही अनुकारक हैं। शंकराचार्यकी तरह सभीने ही एक-एक गीताभाष्य, सहस्रनाम-भाष्य और उपनिषद्-भाष्यकी रचना की है। उस समयसे सभी के हृदयमें ऐसा विचार उठा कि किसी एक सम्प्रदाय की स्थापना करनेके लिये ऊपरोक्त चार ग्रन्थोंके भाष्योंका होना परमावश्यक है। इन चार वैष्णवाचार्योंसे श्री-सम्प्रदाय आदि चार सम्प्रदाय चले आ रहे हैं।”

उपक्रमणिका, कृ. स.

प्र० १९—परमार्थ तत्त्वकी उन्नतिकी पराकाष्ठा कहाँ हुई है ?

“समस्त जगतके इतिहासकी आलोचना करनेपर श्रीनवद्वीपमें ही परमार्थ तत्त्वकी चरम उन्नति देखी जाती है। परब्रह्म स्वरूप भगवान जीवोंके एकान्त प्रेमके आस्पद (वशीभूत) हैं अनुरागपूर्वक उनका भजन नहीं करनेसे वे कभी भी जीवोंके लिये सहज ही प्राप्त नहीं होते। सारे जगतमें जीवोंका जो स्नेह है, उसे छोड़कर उनकी भावना करने पर भी वे सहज ही प्राप्त नहीं होते।”

—उपक्रमणिका, कृ. स.

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

दर्शनमें भ्रान्ति

अनादि बहिर्मुख विरूपप्रस्त जीवोंका यह स्वाभाविक धर्म ही है कि वे अपनी स्वाधीनताका अपव्यवहार करने हैं। स्तनसत्ता के अपव्यवहारके कारण ही जीवोंकी कृष्ण-विमुखता हुई है। इसलिए जब तक जीव अपने स्वरूपमें अवस्थित न होते, तब तक वे अपने विरुद्ध स्वभावका कदापि परित्याग नहीं कर सकते।

संसारमें हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु या प्रत्येक कार्यका 'सद्व्यवहार' और 'अपव्यवहार' होता है। दो एक उदाहरणोंसे ही इस बातको स्पष्ट किया जा सकता है। बिजलीके सद्व्यवहारसे संसारमें अनेक प्रकारके प्रयोजनीय कार्य अत्यन्त सुचारुरूपसे, थोड़े-ही समयमें, बहुत कम खर्चमें एवं थोड़े ही परिश्रमसे सम्पन्न होते हैं। इसके द्वारा गनुष्य-समाजका कितना महान उपकार होता है, इसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। और उसी बिजलीके अपव्यवहारसे कितने ही बहुमूल्य जीवन, बड़े-बड़े नगर, वस्तियाँ एवं सुन्दर-सुन्दर अट्टालिकाएँ, जण भरमें नष्ट हो जाती हैं। अशुद्धोंके सद्व्यवहारसे मानवजीवनोपयोगी बहुतसे कार्य सम्पन्न होते हैं और उन्हींके अपव्यवहारसे तरह-तरहके उत्पात होते हैं।

स्वाति नक्षत्रका जल समुद्रमें पड़नेसे समुद्रमें बहुमूल्यमान मोतीकी उत्पत्ति होती है। वही मोती भगवानके श्रीविग्रहके गलेमें मालाके रूपसे और राजाओंके राजमुकुटों पर शोभा पाती है। जब उसी

स्वाति नक्षत्रका जल ही सर्पके ऊपर गिरता है, उससे उस सर्पका विष बढ़ता रहता है। उस विषैले साँपसे सभी डरते हैं और उसके काटने पर मरणाकी आशङ्का बनी रहती है। गङ्गाजीके किनारे पर नीम, बेल, आम, केले आदिके पेड़ देखे जाते हैं। यद्यपि ये सभी पेड़ एक ही गङ्गाजल पाते हैं, तथापि फल देने के समय भिन्न-भिन्न स्वादके फल प्रदान करते हैं। नीम कडुवा, बेल कषैला और आम एवं केले मीठे फल देते हैं। अतएव प्रहाराकारीके योग्यताके तार-तन्त्रसे एवं एक ही वस्तुके सद्व्यवहार और अपव्यवहारसे सत् और असत् फल लाभ होता है।

इस परम सत्य एवं अत्यन्त सहज और सरल बातको बहुतसे व्यक्ति भूल जाते हैं। फलस्वरूप वे साधु, शास्त्र और गुरुवाक्योंमें दोष ढूढते हैं। किसी-किसीका यह विचार है कि जब साधु या गुरुके निकट जानेका अथवा शास्त्र-पाठका अभिनय कर कोई-कोई व्यक्ति पतित होते हैं, तब 'साधु', 'शास्त्र' और 'गुरु' ही इसके लिए दोषी हैं। साधु-गुरुके अभिनयकारी व्यक्ति या कल्पित शास्त्रके आश्रयकारीका पतन स्वाभाविक है। अनुकरणकारी या अभिनयकारी कभी भी अनुसरणकारी या अनुगत्य-धर्म याजनकारी नहीं है, इसे सभी बुद्धिमान व्यक्ति जानते हैं। भगवानने सब जीवोंको ही स्वतन्त्रता रत्न प्रदान किया है। यदि कोई व्यक्ति अपने स्वतन्त्रताका अपव्यवहार कर भगवत् विमुख और

असदाचारी हो जाता है, तो इसके लिए भगवान पर दोषारोप नहीं किया जा सकता। इसलिए 'भगवानकी उपासना करना कोई भी व्यक्तिके लिए उचित नहीं है' ऐसे नास्तिकोचित वाक्य भी कहे नहीं जा सकते। परन्तु जिससे और भी भगवानके चरणोंमें सब प्रकारसे शरणागत होकर स्वतन्त्रताका सद्व्यवहार अर्थात् भगवानकी सेवामें अनुरक्त हो सकें, इसीके लिए बुद्धिमान व्यक्ति चेष्टा एवं दृढ-संकल्प करते हैं। जो भक्तिराज्यके एकान्त पथिक हैं, ऐसे व्यक्ति सब समय यही देख पाते हैं कि जिस कार्यमें असुरगण मोहित होते हैं, उसी कार्यमें सुरगणोंकी अर्थात् भक्तजनोंकी भगवन्निष्ठा दृढ़ होती है। सुरगण भक्तिराज्यके विपत्ति या बाधाको भगवानकी कृपा जानकर काम-पनोनाक्रमे भगवानमें और भी आसक्त होते हैं, और असुरगण विपत्तियोंके दशन करनेके पूर्व ही—'छिः छिः ! क्या ऐसे भगवानका सभी भजन करते हैं, जो भगवान अपने आश्रित व्यक्तियोंकी विपत्तियोंसे रक्षा नहीं कर सकते ! यह भगवान भगवान नहीं है'—ऐसा कहकर वे आप ही तरफके पथिक बनते हैं और अपने जैसे दूसरे व्यक्तियोंको भी इसी रास्तेमें खींच ले जाते हैं। परन्तु सुरगण मोहित असुरोंकी 'हाथकी ताली' या 'उपहास' को सुनकर भक्तिपथ या आनुगत्य धर्मसे विच्युत नहीं होते। परन्तु वे और एकान्तिक निष्ठाके साथ भगवानके शरणापन्न होते हैं।

शास्त्रपाठका भी बहुत अपव्यवहार देखा जाता है। वेदपाठके अपव्यवहारके फलस्वरूप चार्वाक ब्रह्मण वेदनिन्दक, नास्तिक हुए हैं। शौकवर्णोचित ब्रह्मण कुलमें जन्म लेनेके कारण वेदोंमें अधिकार

प्राप्त करने पर भी ब्राह्मण चार्वाकने वेदनिन्दा करनेके लिए ही वेदका अध्ययन किया था, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकारसे एक कीड़ा बहुमूल्य ग्रन्थोंके संग्रहका नाश करनेके उद्देश्यसे ही ग्रन्थमें प्रवेश करता है। जिस प्रकारसे कीड़ा ग्रन्थके मर्म या सारको ग्रहण कर नहीं सकता केवल बाहरी वर्तुको ग्रहण कर मरणकी ओर ऊप्रसर होता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति शास्त्रोंके निर्दिष्ट विषयमें प्रवेश करनेमें असमर्थ होकर अज्ञानके द्वारा शास्त्रको जानना चाहते हैं, वे भी कीड़ेकी तरह अकिञ्चित्कर और मृत्युके पथिक हैं। श्रीमद्भागवतका पठन कर सुबुद्धिमान व्यक्ति भागवत बनते हैं, परन्तु और कोई-कोई भागवतके निन्दक हो पड़ते हैं—वे भागवतकी बातको 'कल्पित कहानी' समझते हैं। वेद-पुराण-पञ्चगव्य आदि शास्त्रोंको पढ़कर कोई-कोई व्यक्ति सर्वत्र विष्णु-उपासनाकी ही कार्यरता देखते हैं और सर्वत्र ही विष्णुकी कीर्तिका दर्शन करते हैं, एवं कोई-कोई व्यक्ति इन सभीका पाठकर विष्णु-विरोधी नास्तिक हो जाते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने अपनी अध्यापना-तल्लामें प्रति पाणु, प्रति शब्द, प्रति वर्ण एवं व्याकरणके प्रत्येक सूत्रमें सर्वत्र ही कृष्णको दिखलाया है। श्रीजीव गोस्वामीजीने श्रीहरि-नामामृत व्याकरणमें सर्वत्र श्रीहरिनामको दिखलाया है परन्तु और कोई-कोई व्याकरण पढ़कर नास्तिक बन जाते हैं।

'गौड़ीय'-पाठके सद्व्यवहारके द्वारा जीव 'गौड़ीय' अर्थात् गौड़ीयेश्वर श्रीस्वरूपरूपानुग शुद्ध वैष्णव हो सकते हैं। 'गौड़ीय' पाठके अपव्यवहारके द्वारा कई व्यक्ति गौड़ीयका बाहरी आकार देखकर

'गौड़ीय' को 'निन्दक', 'समालोचक', 'ढोंगी' समझते हैं। जो अन्तरमें प्रवेश न कर—शब्दके परम मुख्य-वृत्तिको जानने की चेष्टा न कर शब्दके बाहरी आकृति-का दर्शन करते हैं, उन लोगोंका ही ऐसा दुर्भाग्य है। इस विषयमें एक आख्यायिका (कहानी) सुनी जाती है।

किसी समय एक गाँवमें बड़ी भारी विद्वत्सभा-का आयोजन हुआ था। उस सभामें बहुतसे वैष्णव परिहृत समागत हुए थे। बहुतसे संगीतज्ञ हरिगुण-संकीर्तन करनेके लिए वहाँ एकत्र हुए थे। उस सभाका उद्दिष्ट और आलोच्य विषय था—शास्त्रालो-चनाके द्वारा जीवोंके अत्यन्त मङ्गलको जानना। कुछ विदेशी घूमने-फिरनेवाले लोग भ्रमण करते-करते उस स्थानके निकट पहुँचे जहाँ पर यह महान सभा हो रही थी। उन लोगोंने दूरसे उस सभामें आये हुए बहुतसे व्यक्तियोंका कोलाहल और वाद्-भाण्डादिके शब्दको सुनकर सोचने लगे कि यहाँ पर भयङ्कर कलह और परस्पर युद्ध हो रहा है। उन्होंने कृष्ण कोलाहलको 'कलह' एवं वाद्यादि शब्दको 'युद्ध वाद्यकी ध्वनि' समझा। ऐसा सोचकर उन्होंने सभी स्थानोंमें जाकर यह भूठा रट लगाया कि—'हे भाइयों! आप लोग सावधान रहें। तुम लोग अपने स्त्री पुत्रोंके साथ बात करो। सतर्क रहो। निकटपर्वी ग्राममें एक भयङ्कर कलह और युद्ध चल रहा है। तुम लोग अपने पुत्र-सन्तान और आत्मीय-स्वजनोंको घरसे बाहर न निकलने दो। वे लोग भूलसे भी उस गाँवमें न जाँय। वहाँ जानेसे प्राण-नाश अवश्यंभावी है। जिन लोगोंने इन घूमनेवालोंकी बातोंको सत्य समझकर विश्वास किया, वे लोग वृथा भयके वशीभूत

होकर घरमें ही रहे। उस निकट स्थित गाँवमें जाकर उस स्थानमें हरिकथा कीर्तन महोत्सवादिमें योगदान न कर सके, परन्तु हरिकथाको 'कलह' और जीवोंके मङ्गल कामना करनेवाले निर्मात्सर व्यक्तियोंको परस्पर युद्धमें प्रवृत्त और दूसरोंके अनिष्टकारी समझकर आत्म-वञ्चित हुए। ये भ्रमणकारी व्यक्ति सम्पूर्ण रूपमें वञ्चित हुए ही, इसमें सन्देह नहीं है। इस आख्यायिकामें कहे गये भ्रमणकारी व्यक्ति आत्म-वञ्चक और परदञ्चकके आदर्श हैं और उनकी बातको सत्य माननेवाले व्यक्ति भी आत्मदञ्चक ही हैं।

जो व्यक्ति गौड़ीयोंके जीव-मङ्गलकांक्षा—गौड़ीय का महान उद्देश्य—महावदान्यता—अमन्दोदया-दया—परस्पर विरोधी वाद-प्रतिवाद साम्य प्रयासको महाचित्समन्वय चेष्टा न समझकर उन्हें वाद-प्रति-वादकारी या निन्दक समझते हैं, वे उपरोक्त व्यक्तियोंकी तरह आत्मवञ्चित हैं।

श्रीमद्रामानुजाचार्य, श्रीमदूर्णप्रज्ञ मध्वाचार्य भावि विष्णुभक्ति संरक्षक आचार्योंने विष्णु-विरोधी अद्वैत दलके नाना प्रकारके विष्णुविरोधी मतवादको नानाप्रकारके युक्ति प्रमाणांके द्वारा खरख विश्वपरिहृत कर जगतमें विष्णुभक्तिकी स्थापना किया था एवं निःशेषवादी उनके अकाट्य युक्तिसे पराजित हुए थे। इसलिए वे अभी भी श्रीरामानुज-मध्वको 'प्रच्छन्न-ताकिक' कहा करते हैं। किन्तु रूप-सनातन-श्रीजीव आदि आचार्योंने उन्हें भक्ति-संरक्षक आचार्यके रूपमें ही स्वीकार किया है।

जिन्होंने भक्तिराज्यमें प्रवेश किया है, वे ही उस स्थानकी विरोध-शून्य महामाधुरीको जान सकते हैं

और जो बाहरमें रहकर विचार करते हैं, वे वञ्चित-मात्र होते हैं। ‘श्रीगौड़ीय’ श्रीमद्भागवत और श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रचारित सार्वजनिक नित्य-धर्मकी ही व्याख्या है। जो गौड़ीयोंके होकर अर्थात् भीतरमें प्रवेश कर गौड़ीयको दर्शन करनेकी चेष्टा करेंगे, वे देखेंगे कि गौड़ीयोंके वाक्यमें महाचित्त-समन्वय छिपा हुआ है, उसमें परमानन्द-प्रकाशनी परिपूर्ण-निर्मलता है, उसमें सभी शास्त्रविवाद और परस्पर विरोधी मतसमूह सम्यक् रूपसे सामञ्जस्य

किये गये हैं। उनकी भक्तिविनोदन क्रिया सर्वदा समताको दे रही है, अप्राकृत रसकी ओर ले जा रही है और अत्यन्त श्रेष्ठ अमन्दोदयदयाको दान कर रही है। ऐसा और कहीं असम्भव है। अतएव मैं सभीसे हाथ जोड़कर दीनतापूर्वक कहता हूँ कि वे गौड़ीयके भीतर प्रवेश करें—गौड़ीयोंके अन्तरङ्ग बनें। आप लोग साधु होनेके कारण ही मैंने आप लोगोंके निकट यह निवेदन करनेका साहस किया है।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

“तीर्थो कुर्वन्ति तीर्थानि”

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं प्रभोः ।

तीर्थो कुर्वन्ति तीर्थानि स्वात्स्वेन गदाभृताः ॥

(भा० १।१३।१०)

मेदिनीपुरके शैलेन्द्र नारायण घोषाल लिखते हैं—“इस देहमें अपार सम्पत्ति है, क्योंकि स्वयं भगवानका हममें नाम है। गुरु-कृपासे शब्दकी धारा (नाम) के साथ सम्बन्धयुक्त होने पर अहंकारका आवरण दूर हो जाता है ॥ॐॐ इस अमूल्य नामकी धाराके बिना अहंकारका दूर होना असम्भव है। जो अत्यन्त अन्धविश्वासी हैं, वे बाहरी वस्तुओंमें (तीर्थोंमें, मन्दिरोंमें, मठमें, मूर्तियोंमें) भगवानको ढूँढते हैं। महात्मा भक्त लोग सद्गुरुकी कृपासे ही उनका सम्बन्ध पाते हैं। शब्दकी धारा या नामके बिना अन्धकार ही अन्धकार है। सद्गुरुके निकट इस नामकी चाबी है—आपके या दूसरे के निकट

नहीं। बहुत सौभाग्यसे शब्दभेदी सद्गुरु प्राप्त होते हैं।”

विदुरजी धृतराष्ट्रके भाई थे। जना तीर्थोंमें भ्रमण कर जब वे हस्तिनापुर लौटे, तब बुधिष्ठिरजीने “भवद्विधा”श्लोकके द्वारा उनका अभिनन्दन किया।

हम श्लोकका गद् तात्पर्य है कि आप जैसे भागवत (भक्त) लोग स्वयं तीर्थस्वरूप हैं। आप अपने हृदयमें सर्वदा गदाधर (श्रीकृष्ण) को धारण करते हैं इसलिए पापियोंके पापसे मलिन हुए तीर्थोंको पवित्र करनेमें समर्थ हैं।

इसलिए हमने सोचा था कि शायद शैलेन्द्र “आलोकतीर्थ” को प्रकाशित कर मलिन तीर्थोंको पवित्र करेंगे। किन्तु उन्होंने जिस प्रकारसे साधु, गुरु एवं दैर्घ्यवाँके चरणोंमें अपराधमूलक वाक्योंका प्रयोग किया है, उससे जान पड़ता है कि वे आप ही

महा अपराधी हैं। इसलिए उन्हें पवित्र करनेके लिए "स्वान्तस्थेन गदाभृता" विदुर जैसे भागवतों की आवश्यकता है। घोषाल महाशयने जिस अमूल्य नामकी धाराको छोड़कर अहंकारका नाश होना असम्भव माना है, वह नाम क्या है, यह उन्होंने नहीं बतलाया। हिन्दु समाजमें देखा जाता है कि नारियाँ अपने पति या देवरका नामोच्चारण नहीं करती। बहुत से समय स्वाध्वी स्त्रियाँ इङ्गितके द्वारा अपने पतिका नाम लेती हैं। परन्तु शैलेन्द्र घोषाल नारायणने वैसा भी कोई इङ्गित नहीं दिया है। इसका तात्पर्य यह हुआ उनका कोई निर्दिष्ट स्वामी नहीं है। जिसका कोई निर्दिष्ट स्वामी नहीं है, वह स्त्री वेश्या है। हिन्दुओंके शाश्वत समाजमें अपनी अनुभवके अनुसार उस शब्दब्रह्मका नामकरण करते हैं। शब्दके द्वारा अनुभूति और ज्ञानकी प्राप्ति होता है। शैलेन्द्र नारायणने उनके "आलोकतीर्थ" में जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, यदि उन शब्दोंके द्वारा अनुभूति और ज्ञान नहीं होता, तब "आलोकतीर्थ" को अन्धकार ही समझा जायगा। इसलिये शाश्वत समाजमें उस अमूल्य नामकी धाराको 'राम', 'कृष्ण', 'विष्णु', 'गोविन्द', 'मुरारि', आदि सहस्रों नामोंके द्वारा उल्लेख किया है। श्रीश्रीचैतन्य-महाप्रभुजीने उस श्रीहरिका नाम प्रचार कर बद्धजीव के अहङ्कारका द्वार खोल दिया है। परवर्ती कालमें नानक आदि धर्मप्रचारकोंने उससे लाभ उठाये हैं। श्रीश्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने एकदेशदर्शी होकर उस अमूल्य नामको केवलमात्र 'दयालु' नहीं कहा। दयालुता उनके अनन्त गुणोंका एक कणमात्र है। उनके अनन्त गौणनाम होने पर भी उनके ऐकान्तिक

भक्तोंके निकट वे मुख्य या स्वरूपस्थ नामसे ही परिचित हैं। वे 'राम', 'कृष्ण', 'गोविन्द' आदि नाम हैं। पूर्वाचार्यगण कृष्ण-द्वैपायन व्यास, श्री-नारद एवं उनके परवर्ती कालमें श्रीधरस्वामी, श्रीरामानुज, श्रीमध्व आदि आचार्योंने उस अमूल्य श्रीनामकी धारा को अनन्तकोटि जीवोंके उपयोगी बनाकर सहस्रों धाराओंमें प्रवाहित किया है। श्रीभगवान् अनन्त हैं, उनके श्रीनाम भी अनन्त हैं एवं उयके नामोंकी भी अनन्त धाराएँ हैं। श्रीहरिके विभिन्नांश जीव भी अनन्त हैं। इसलिये अनन्त कोटि जीव उस श्रीनामकी धारामें शुद्धरूपसे स्नान करनेसे ही उनके जड़ अहङ्कारका कठिन द्वार खुल जायगा। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने उनके महावदान्यता का परिचय देकर नाम महिमाका उनके 'शिक्षाष्टक' के द्वारा प्रचार किया है। वे कहते हैं—

नाम्नामकारी बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रापिता नियमितः स्मरणे न कालः
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्द्वेवमीदृश गिहाजनि नानुरागः ॥२॥

अर्थात् उस भगवान्के अनन्द नामोंमें से प्रत्येक नाम ही पूर्णशक्तियुक्त है। किन्तु दुर्भागि जीव उन सब नामोंके तत्त्वको निरपराधपूर्वक अनुभव न कर उसमें अनुरागी हो नहीं पाते। पद्मपुराणमें श्रीरामचन्द्र जीके शतनाम स्तोत्रका वर्णन है। उसमें श्रीरामनामका तत्त्वभी इस प्रकारसे व्याख्या की गई है—

"रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
राम इति पदेनातो परंब्रह्माभिधियते ॥"

अर्थात् अनन्त, सत्यानन्द, चिदात्मस्वरूप परम-

तत्त्वोंमें योगी लोग रमण (आनन्द) लाभ करते हैं। इसलिये परब्रह्म वस्तुको ‘राम’ नामसे पुकारा जाता है। इसलिये अपने स्वामी या देवरके नामको न जाननेके कारण शैलेन्द्रनारायणजी राम-नाम या कृष्ण नामकी उपेक्षा नहीं करेंगे। श्रीपाद श्रीधर-स्वामीने कृष्ण नामकी व्याख्याको महाभारतसे उद्धृत किया है:—

कृषिपूर्वाचकः शब्दो एव च निवृत्तिवाचकः ।

तयोरक्ष्यम् परब्रह्म कृष्ण इत्याभिधीयते ॥

(म० भा० उ० प० ७१।४)

अर्थात् कृष धातु आकर्ष सत्तावाचक है। कृष् धातुका अर्थ—जिसका आकर्षण शक्ति है और ‘ण’ शब्द निवृत्ति अर्थात् परमानन्दवाचक है। कृष् धातु में ण प्रत्यय युक्तकर दोनोंके ऐक्यसे ‘कृष्ण’ शब्दमें परब्रह्म प्रतिपादित होते हैं। राम और कृष्ण दोनों नाम ही परब्रह्मतत्त्वमें समत्व वर्तमान है, परन्तु रस विचारसे तारतम्य है। वेदादि श्रुतियोंके ‘रसो वै सः’ “रसो ह्येवायं लब्धवानन्दी भवति” इत्यादि प्रामाणिक वचनोंके द्वारा यह जाना जाता है कि वह परब्रह्मतत्त्व सभी रसोंका आधार है। गोस्वामियोंने विभिन्न शास्त्रोंका विचारकर पारमार्थिक राज्यके जिन सभी सिद्धान्त और तत्त्वोंका अनुसन्धान किया है, उस महासमुद्रकी तुलनामें शैलेन्द्र घोषाल एक बुद्बुदेके बराबर भी नहीं हैं। उन्होंने श्रीजीव गोस्वामी जैसे दार्शनिक चूडानगिकी व्याख्यामें दोष दर्शन करनेकी चेष्टा की है, उसमें उनकी यथेष्ट पृष्टता और अज्ञताका ही परिचय पाया जाता है।

श्रील, रूप गोस्वामीपादने परब्रह्म श्रीकृष्णको ‘अखिल रसामृतसिन्धु, कहा है। श्रीमद्भगवद्

गीतामें परब्रह्म भगवान श्रीकृष्णने स्वयं कहा है कि जो व्यक्ति जिस परिमाणमें उनका शरण ग्रहण करता है, उसी परिमाणमें उन्हें वह जान सकता है। पद्मपुराणमें कहा है:—

“अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेत् ग्राह्यमिन्द्रियैः ।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादी स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥”

अर्थात् श्रीकृष्णके नाम-रूप-गुण लीलादि प्राकृत चक्षु कर्णादिके द्वारा प्राप्य नहीं है। जीव जब सेवोन्मुख होते हैं अर्थात् चित्-स्वरूपमें कृष्णोन्मुख होते हैं, तब अप्राकृत इन्द्रियमें कृष्ण नामादि स्वयं स्फूर्तिलाभ करते हैं। इसलिये जो अपने चिन्मय स्वरूपका उपलब्धि नहीं कर पाये, वे कभी भी ‘राम’, ‘कृष्ण’, ‘गोविन्द’,—इन सभी Sympolic sound representation का उपलब्धि नहीं कर सकते। सद्गुरुका आश्रय ग्रहण करनेसे नामा-पराध, नामाभास एवं शुद्धनामका क्रम जाना जा सकता है। जो नामापराधको ही शुद्धनाम समझते हैं, ‘अमूल्य नामकी धारा’ उन्हें स्पर्श नहीं कर सकती और उनके जड़ अहंकारका नाश भी नहीं हो सकता।

श्रील नरोत्तम ठाकुरने गाया है—“अहंकारे मत्त हये, निताइ-पद पासरिये, असत्येरे सत्य करि मानि।” इसलिये जड़ अहंकारका नाश होना और शुद्ध अहंकारमें प्रतिष्ठित होना—इन दोनों विषयोंमें Gulf of difference (अन्तर) है। इसे अल्प-ज्ञानी, निर्विशेषवादी अपने स्वामीसे अपरिचित व्यक्ति जान नहीं सकते।

—त्रिदण्डस्वामी श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज

सन्दर्भ-सार

[१]

श्रीमध्व—रामानुजादि प्राचीन वैष्णवाचार्योंने भगवत् तत्त्व-विषयक जिन सभी ग्रन्थोंका प्रणयन किया था, श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीपादने उन सभी ग्रन्थोंका सार सङ्कलन किया है। उसमें कहीं-कहीं क्रमानुसारसे और कहीं-कहीं क्रमभङ्गसे या विच्छिन्न रूपसे जो सभी विषय लिखे गये थे, उक्त सभी विषयोंकी आलोचना कर श्रील जीव गोस्वामीपादने क्रमानुसार एक ग्रन्थका प्रणयन किया था। उस ग्रन्थमें श्रीमद्भागवतके सिद्धान्त-रहस्यको विस्तार-पूर्वक दिखलानेके लिए जिन सभी ग्रन्थोंका प्रणयन किया था, वे तत्त्व, परमात्म, भगवत्, श्रीकृष्ण, भक्ति और प्रीति-सन्दर्भके नामसे प्रसिद्ध हैं। सन्दर्भ का अर्थ है रहस्य अथवा गोपनीय विषय। श्रीमद्भागवतमें जो सभी गूढ़ रहस्य हैं, वे सभी इस ग्रन्थमें सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन विचारपूर्वक सङ्कलित हुए हैं। इसलिए ये सभी सन्दर्भ भागवत-सन्दर्भ या षट्-सन्दर्भ भी कहलाते हैं। उसमेंसे सर्वप्रथम तत्त्वसन्दर्भकी आलोचना की जा रही है।

अत्यन्त बुद्धिमान और व्यवहार-कुशल होने पर भी प्रत्येक मनुष्यमें ही भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि चार प्रकारके दोष वर्तमान हैं।

(१) भ्रम—मिथ्याज्ञान या मिथ्यामतिको भ्रम कहते हैं। भ्रम दो प्रकार का है:—(१) विपर्यास और (२) संशय। शरीरके प्रति आत्मबुद्धि ही विप-

र्यास है। किसी वस्तुके ज्ञानके सम्बन्धमें अनिश्चय होना ही संशय है। पित्त, दूरत्व, मोह, भय आदि कारणोंसे भ्रम होता है। पित्तरोगमस्त जिह्वामें शर्करादि मीठे पदार्थ कड़ुवे बोध होते हैं। दूरत्वके कारण सूर्य-चन्द्र छोटे-छोटे थाले जैसे प्रतीत होते हैं। आत्मा अविकारी एवं नित्य वस्तु है। किन्तु शरीरको आत्मा समझने से मोहवशतः मोटाई, पत-माई आदि जड़िय विचारोंकी उत्पत्ति होती है भयके कारण अन्धेरे रातमें रस्सीको साँप और शाखापल्लव रहित वृक्षको भूत-प्रेमका भ्रम होता है।

(२) प्रमाद—अन्यमनस्कताको ही प्रमाद कहते हैं। चित्तकी चंचलताके कारण किसी विषयमें मनः-संयोग न होनेसे प्रमादका उदय होता है।

(३) विप्रलिप्सा—वञ्चना करनेकी चेष्टाको विप्रलिप्सा कहते हैं। अत्यन्त स्वार्थपर होकर दूसरोंकी वञ्चना कर अपनी सुख-सुविधाको बढ़ानेकी इच्छा ही विप्रलिप्सा है।

(४) करणापाटव—इन्द्रियोंकी अपटुताको करणापाटव कहते हैं। करणापाटवमें मनोयोगके रहने पर भी वस्तुका उत्तमरूपसे अनुभव नहीं होता।

इन चारों दोषोंके कारण किसी निश्चित प्रमाण के बिना वास्तव वस्तुका विचार होना कठिन है। यथार्थ ज्ञानका नाम प्रमा है, और जिसके द्वारा प्रमा

का उदय होता है, वही प्रमाण है। आमके फलको देखकर आमके बारेमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु रस्सी यदि साँप जैसे जान पड़े, तो वह भ्रम ज्ञान है। प्रमाणके विषय में दार्शनिकों का विभिन्न मतवाद और मतभेद देखा जाता है। चार्वाकके मतानुसार प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। बौद्ध मतानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रमाण हैं। सांख्यके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-तीनों ही प्रमाण हैं। न्याय दर्शनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द-चार प्रमाण माने गये हैं। मीमांसक प्रभाकरके मतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति—पाँच प्रमाण हैं। इन पाँचों प्रमाणोंके अलावा अनुपलब्धि, सम्भव और एतिहास इन तीनों को भी चैरालिङ्गने प्रमाण माना है। पञ्चकार श्रीजीव गोस्वामीपादने अपने सर्वसंवादिनीमें दस प्रमाणोंका उल्लेख कर शब्द प्रमाणको ही एकमात्र यथार्थ प्रमाणके रूपमें स्वीकार किया है। इन्हींका नीचे विचार किया जा रहा है।

(१) प्रत्यक्ष—यज्ञ आदि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। इन्द्रियोंकी अपटुता, चित्तकी अस्थिरता, दृश्य वस्तुकी सूक्ष्मता आदि दोषोंके कारण प्रत्यक्ष-ज्ञान भ्रम-प्रमादादि चार दोषोंके अधीन है।

(२) अनुमान—पहले किसी वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् अन्य वस्तुका ज्ञान होना ही अनुमान है। जैसे पर्वतमें धुआँ देखकर अग्निका अथवा आगका निश्चय करना। किन्तु कई बार बाष्प (वर्षा अथवा हिमका गिरना) भी धुआँ सा प्रतीत होता है। इसलिये अनुमान भी दोषयुक्त है।

(३) शब्द—आप्त वाक्यको शब्द कहते हैं। यथार्थ पुरुष या भ्रमादि चारों दोष शून्य व्यक्तिको आप्त कहा जा सकता है। किसी भी प्रमाणके द्वारा जो बाधाको प्राप्त नहीं होता, उसीको आप्त वाक्य कहा जा सकता है। इसलिये ईश्वरोक्त वाक्य ही आप्तवाक्य हैं। क्योंकि प्रत्येक मनुष्यमात्रमें ही भ्रमादि चार दोषोंका होना अनिवार्य है।

वाक्य दो प्रकारके हैं—(१) लौकिक और (२) वैदिक लौकिकमें विश्वासयोग्य यथार्थ वक्ताका वाक्य ही प्रमाण है। उसको छोड़कर दूसरेके वाक्य भ्रमप्रमाण हैं। अनादि होनेके कारण स्वयं सिद्ध शब्द ही प्रमाण है। वेद भगवानके अनादिसिद्ध वाक्य हैं। इसलिये वेद अपौरुषेय भी कहलाते हैं। सभी मनुष्योंके पिता स्वरूप भगवानने जीवोंके कल्याणके लिये जो सभी उपदेश दिये हैं, वे भ्रमादि दोषशून्य और अव्यभिचारी प्रमाण होनेके कारण सभीके ग्रहण करने योग्य हैं।

(४) आर्ष—ऋषियों द्वारा कहे गये वाक्य ही आर्ष हैं।

(५) उपमान—किसी एक पदार्थकी तुलनामें दूसरे वस्तुका परिचय प्रदान करना।

(६) अर्थापत्ति—किसी शब्दका अर्थ न निकलनेपर उसका दूसरा अर्थ कल्पना करना। कैसे—स्थूल देवदत्त दिनको भोजन नहीं करता। भोजन न करनेसे स्थूलत्व नहीं रह सकता। इसलिये यदि दिनको भोजन नहीं करता, तो रातको अवश्य ही भोजन करता होगा। यही अर्थापत्ति है।

(७) अभाव—पदार्थकी अनुपलब्धि के कारण अभावका बोध होता है।

(८) सम्भव—सौमेंसे एक या दस है, इसी सम्भावनाका नाम सम्भव है।

(९) एतिहा—जिसके वक्ताको जाना नहीं जा सकता, किन्तु पुरुष परम्परासे चला आ रहा है, वही एतिहा है। जैसे—इस वृक्षमें यत्न वास करता है।

(१०) चेष्टा—हाथ-पाँव आदि इन्द्रियोंके द्वारा जो संकेत किया जाता है वही चेष्टा है।

ये सभी प्रमाण जीवोंके बुद्धिबृत्तिसे ही नाना प्रकारसे प्रकाश पाते हैं। परन्तु जीवोंकी बुद्धि भ्रमादि चार दोषोंसे युक्त होनेके कारण इन सभी प्रमाणोंमें व्यवभिचार देखा जाता है। इसलिये अचिन्त्य अलौकिक वस्तुके ज्ञानके विषयमें वेद ही एकमात्र अव्यभिचारी प्रमाण है। लौकिक प्रत्यक्ष आदि ज्ञान भगवानके सम्बन्धमें यथार्थ ज्ञान प्रदान नहीं कर सकते। संसारमें हमलोग जिस नियमके अनुसार परस्पर व्यवहार वा कर्मादि करते हैं, चेतन या अचेतन पदार्थोंके नाम-गुण-क्रियादिको जान सकते हैं, इन सभी ज्ञानका वेद ही एकमात्र कारण है।

वेदोंमें अलौकिक ज्ञानका भी परिचय पाया जाता है। अलौकिक ज्ञानको तर्कके द्वारा जाना नहीं जा सकता, क्योंकि किसी तार्किकके मतको दूसरा तार्किक युक्तिके द्वारा खण्डन कर सकता है। किन्तु अलौकिक अप्राकृत परमेश्वरके सम्बन्धित ज्ञान जीवोंके इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणीय नहीं है। इसलिए

ब्रह्मसूत्रमें (२।१।११) 'तर्काप्रतिष्ठानात्' सूत्रमें और महाभारतमें 'अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केन योजयेत्', 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र सू १।१।३) एवं 'पितृ-देव-मनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर । श्रेयस्त्व-नुलब्धेऽर्थे-साध्य - साधनोयोरूपि ॥ (भागवत १।१२०।४) श्लोकमें इसका दृढरूपसे विचार किया गया है।

कलिकालमें वेदका प्रचार खूब कम है। उसमें से कोई वेद या वेदांश लुप्तप्रायः हो गया है। वेदके अर्थको ग्रहण करनेवाले कालके प्रभावसे मन्दबुद्धि-युक्त हैं। इसलिए दुर्गम-विषयको धारणा करनेकी शक्तिका उनमें अभाव है। इसलिये वेदका दुष्पारत्व और दुरधिगमत्व स्पष्ट जान पड़ता है। अतएव वेदोंके अर्थ निर्यायक इतिहास-पुराणादिको लेकर ही परमार्थ-विचार करना चाहिये। इतिहास और पुराण भी वेद ही हैं। यह शास्त्र-प्रमाणमें देखा जाता है:—

एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निश्चमितमेतद् यद्गृह्वेदो । यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम् । (बृहदारण्यक २।४।१०)

याज्ञवल्क्य ऋषिने अपने पत्नी मैत्रेयीसे कहा—हे मैत्रेयी ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास और पुराण—ये सभी ही पूर्वसिद्ध विभु परमेश्वरके निःश्वास स्वरूप हैं अर्थात् निःश्वासकी तरह अनायास ही उनमेंसे निकले हैं।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत् (महाभारत आदि १।२६७) इतिहास और पुराणोंमें वेदके अर्थको अच्छी तरहसे व्यक्त किया है।

पुरा तपश्चचारोग्रमराणां पितामहः ।
 आपिभूतास्तुतो वेदाः सषडङ्ग पदक्रमः ॥
 ततः पुराणमखिलं सर्वशास्त्रमयं ध्रुवम् ।
 नित्यशब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥
 निर्गतं ब्रह्मणो वक्त्रात् तस्य भेदाग्निबोधता ॥

(स्कन्द पुराण, प्रभास खण्ड)

इतिहास पुराणानि पंचमं वेदधीश्वरः ।
 सर्वस्य एव वक्त्रेभ्यः सृजे सर्वदर्शनः ॥

(श्रीमद्भागवत २।१२।३६)

स्कन्दपुराणमें कहा गया है कि प्राचीनकालमें पितामह ब्रह्माने कठोर तपस्या की थी। उस तपस्याके द्वारा षडङ्ग पदक्रमके सहित वेद आविर्भूत हुए। उसके पश्चात् उनके मुखसे नित्य शब्दब्रह्ममय सौकोटिरलाकोंमें निरक्त सर्वशास्त्रमय नित्य पुराण आविर्भूत हुए। वे पुराण १८ हैं। जैसे:—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, श्रीमद्भागवत, नारदीय, वाराह, ब्रह्माण्ड, गरुड, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, कूर्म, स्कन्द, मत्स्य, भविष्य, वामन, मार्कण्डेय, शैव, और अग्नि।

सर्वज्ञ ईश्वरने अपने श्रीमुखसे सभी इतिहास और पुराणात्मक पञ्चमवेदको प्रकाश किया।

वेदके छः अङ्ग षडङ्ग कहलाते हैं—

शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषामिति ।
 चन्दश्चेतिषडङ्गानि वेदानां वैदिका विदुः ॥

छन्दः पदो तु वेदस्य हस्ती कल्पोऽय कथ्यते ।
 ज्योतिषामयनं नेत्रं निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
 शिक्षा प्राणस्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
 तस्मात् साङ्गमधीत्येव ब्रह्मलोके महीयते ॥

अकारादि वर्णोंके उच्चारण आदिका ज्ञान शिक्षासे पायी जाती है। वेदविहित यागादि क्रिया का उपदेशक कल्प है। साध्य-साधन-कर्त्ता-कर्म-क्रिया-समासादिका निरूपण व्याकरण से होता है। शब्द के शब्दबोधके अतिरिक्त कुछ शब्दोंका अर्थनिर्णयक-निरुक्त है। अक्षर और मात्रासंख्यामें निर्दिष्ट पद्यविशेष-छन्द है। ग्रहगणनादि रूप गणनशास्त्र-ज्योतिष है। वैदिकगण इन छः अङ्गोंको वेदाङ्ग कहते हैं। वेदका पद छन्द है, हाथ कल्प है, ज्योतिष ही नेत्र है। निरुक्त ही कान हैं, शिक्षा ही प्राण है और व्याकरण ही मुख है। इस साङ्ग वेदका अध्ययन करनेसे ब्रह्मलोकमें निवास होता है।

ऋग्वेदमें २१ शाखाएँ हैं। आयुर्वेद इसका उपवेद है। यजुर्वेदमें १०१ शाखाएँ हैं। धनुर्वेद इसका उपवेद है। सामवेदमें १००० शाखाएँ हैं। गान्धर्ववेद इसका उपवेद है। अथर्ववेदमें ६ शाखाएँ हैं। स्थापत्यवेद इसका उपवेद है।

(क्रमशः)

—त्रिवण्डिस्वामी धीमद भक्तिभूषेव धीती महाराज

वृन्दावनकी पृष्ठभूमि

(स्व) भौतिक दृष्टिसे वृन्दावन

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष २, संख्या ६-६ पृष्ठ २०६ से आगे]

परम वैष्णवाचार्योंका पावन योग

सन् १७३६ ई. में इतिहास प्रसिद्ध नादिरशाहके सैनिकोंने वृन्दावनकी जनतासे जबरदस्ती धन लूटना आरम्भ किया था, धन न मिलने पर उन्होंने देव-मन्दिरोंको तोड़नेमें भी संकोच नहीं किया। सन् १७५७ ई. में अहमदशाह अब्दालीकी नृसंशताका आतंक पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था, हिन्दीके महान् कवि एवं वृन्दावनके अनन्य रसिकभक्त श्रीघनानन्द इसी आतंकमें प्रजरजमें लीन हुए थे। (देखिये-घनानन्द ग्रन्थकी भूमिका पृ० ५०)।

मुसलमानों के बाद

सन् १७८८ ई. में महाजी सिधियाको शाहआलम दरबारसे आगरेकी निजामतमें वृन्दावन भेंट किया गया। सिधिया काल (सन् १७८८-१८०३ ई.) में लड़खड़ाता हुआ वृन्दावन पुनः खड़ा होने लगा। देवालियोंमें पुनः जयजयकारकी मधुर ध्वनि गूँजने लगी। सार्ध सैक द्वारा सिधियासे आगरासूबा ले लेनेके कारण ३ अक्टूबर १८०३ ई. को वृन्दावन अंग्रेजोंके अधिकारमें आ गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मुगल सम्राट अकबरके ही शासन कालसे वृन्दावन शाहीसूबा आगराके अन्तर्गत था। अंग्रेजोंके लगभग १५० वर्षके शासनकालमें ऐसा कोई भी आक्रमण या उथल-पुथल वृन्दावनमें नहीं हुआ, जिससे यहाँकी धार्मिक भावनाको ठेस पहुँची हो। वरन् यहाँके मन्दिरोंके बन-निर्माण एवं जीर्णोद्धारके लिये अनेकों ट्रस्टोंकी स्थापना हुई। विभिन्न वैष्णव

सम्प्रदाय धनिकोंकी सहायता और सहयोगसे भूमि उपलब्ध कर सुन्दर-सुन्दर मन्दिरों, सरोवरों, घाटों, बगीचोंका निर्माण कराने लगे। सन् १६१६-२० ई. में श्रीनन्दलाल वसु द्वारा श्रीगोविन्ददेव, श्रीमदन-मोहन, श्रीगोपीनाथ आदि वर्तमान मन्दिरोंके निर्माणका सराहनीय कार्य हुआ है। जमींदारों, राजाओं तथा धनियोंमें वृन्दावनको सुसज्जित करनेके लिये परस्पर होड़ पैदा हो चुकी थी। यात्रियोंकी सुविधाके लिये आवागमनके साधनों, धर्मशालाओं आदिके निर्माणके कार्य तेजीसे होने लगे थे। अनेकों वाचनालयों एवं संस्कृत विद्यालयोंकी स्थापना हुई जिनके द्वारा विशार्थियोंको पूर्ण एवं निःशुल्क सुविधाएँ प्राप्त होने लगी थी।

स्वतंत्रताके विगत १८ वर्षोंसे यह वृन्दावन आधुनिक शिक्षा, राजनीति, अर्वाचीन भगवत्सेवाकी परिपाटी, नये-नये भवन-निर्माण आदि अनेकों दृष्टियोंसे बाह्यरूपमें उन्नतिके पथपर अग्रसर होता दिखलायी तो पढ़ता है, परन्तु यह उन्नति वास्तविक रूपमें पारमार्थिक वृन्दावनकी उन्नति है अथवा प्राचीन वैष्णवाचार्योंद्वारा प्रकटित परमार्थिक वृन्दावनके सच्चे स्वरूपको आच्छादित कर—उपेक्षा कर उसके आवरणको ही और भी दृढ़ करनेवाली और लोक-बंचना करनेवाली अनवति है—यह विवेचनीय है।

—श्रीकेदारदत्त तत्राड़ी एम. ए. साहित्यरत्न,
साहित्यालंकार

महाभारतका आविर्भाव काल और पूर्व-इतिहास

मुखबन्ध या सूचना

यह सभी जानते ही हैं कि महाभारत श्रीमद्-भागवतके पूर्व ही रचित हुआ था। परीक्षितजीकी सभामें श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवतका पाठ एवं आलोचना किया, था, यह इतिहास प्रसिद्ध घटना है। तथापि जैव जगतके मङ्गलकामी महाभारतका पाठ-कीर्तन। प्राचीन समयसे ही करते चले आ रहे हैं। श्रीमद्भागवतके प्रकट कालमें भी समय अनुकूलताके अनुसार महाभारतका पठन-पाठन होता था। श्रीशुकदेव-शौनकादि ऋषियोंने शास्त्र-शिरोमणि श्रीमद्भागवतका सर्वोत्तम अधिकारी एवं महापुरुषों के लिए ही श्रवण-कीर्तन की व्यवस्था की है। स्वयं वेदव्यासजीने महाभारतकी अपेक्षा श्रीमद्भागवतको ही श्रेष्ठ कहकर वर्णन किया है। इसका बहुतसे स्थानों में प्रमाणोंके द्वारा पुष्टि किया है।

भक्तप्रवर श्रीजनमेजय उनके पिता परीक्षित महाराजकी सभामें श्रीमद्भागवतकी आलोचनाके विषयमें जानते थे। तथापि सर्प-यज्ञके समय महाभारतके अध्ययन प्रचारको ही मङ्गलजनक समझकर इसका पठन-पाठनका प्रचार किया। श्रीमद्भागवत हिंसा द्वेषशून्य निर्मलसर पारमहंस्य संहिता होनेके कारण अनादिकालसे ही भागवतोंके द्वारा आदर प्राप्त है। परमवैष्णव राजा जनमेजय जानते थे कि सभी व्यक्ति श्रीमद्भागवतके अधिकारी नहीं हैं और उक्त यज्ञमें उसकी आलोचना करना अनुचित

था। यहाँ पर सर्वोत्तम इतिहास और पञ्चमवेदरूपी महाभारतके प्रचारार्थ इसका ऐतिहासिक माहात्म्य बतलाया जा रहा है।

श्रीसूत गोस्वामीका नैमिषारण्यमें उपस्थिति

अति प्राचीनकालमें नैमिषारण्यमें शौनकादि ऋषियोंने द्वादश वर्ष व्यापी यज्ञका अनुष्ठान किया। एक समय ऋषि लोग अपने दैनन्दिन कर्मोंको समाप्त कर भगवत् कथाकी आलोचना कर रहे थे। उस समय वहाँ पर लोमहर्षण ऋषिके पुत्र पौराणिक सौति उपस्थित हुए। नैमिषारण्यवासी ऋषियोंने उनको देखकर उनसे भगवत् कथा श्रवण करने लिए उत्कण्ठित होकर उनके निकट पहुँचे। उपश्रवा सौति-जीने उनका यथोचित सम्मानपूर्वक तपस्याका वृत्तान्त पूछा। उन ऋषियोंने माननीय अतिथिका यथाविधि सत्कार किया। उन्हें आसन प्रदान कर आप भी सभामें उपस्थित हुए। सौतिजीके आसन ग्रहण करने पर ऋषियोंने कथाके प्रसङ्गमें उनका आगमनका वृत्तान्त एवं कौन-कौनसे तीर्थोंमें उन्होंने पर्यटन किया था, यह भी पूछा।

श्रीसूतजी उन शान्त स्वभावयुक्त ऋषियोंसे कहने लगे—हे महर्षिगण ! मैं भक्तप्रवर जनमेजयजी के सर्पयज्ञमें गया था। वहाँ मैंने श्रीवैशम्पायनजीके मुखसे श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासोक्त महाभारतका श्रवण किया। वहाँ से निकलकर बहुतसे तीर्थोंका दर्शन किया। पश्चात् सभी ऋषियोंके आश्रमोंमें

गया। अन्तमें कुरु-पाण्डवोंके युद्ध-स्थल स्यमन्त-पञ्चक-तीर्थ (कुरुक्षेत्र) में उपस्थित हुआ। वहाँ से आप लोगोंका दर्शन करनेके लिए इस पवित्रक्षेत्रमें आया हूँ। धर्मसम्बन्धीय पौराणिकी कथा अथवा ऋषियोंका इतिहास-इनमेंसे किस विषयका वर्णन करूँ, इसका आप लोग मुझे परामर्श प्रदान करें। ऋषियोंने कहा—भगवान श्रीवेदव्यासजीने जिस महाभारतका वर्णन किया है, सुर और ब्रह्मर्षिगण जिसकी प्रशंसा करते हैं, हमें उसीके विषयमें श्रवण करनेकी उत्कंठा हो रही है क्योंकि जो सभी उपाख्यानोमें श्रेष्ठ है, वेदादि नाना-शास्त्रोंका सार स्वरूप है और जिसमें आत्मतत्त्वका सम्यक् रूपसे विचार किया गया है, उसका श्रद्धाके साथ श्रवण करनेसे अवश्य ही हम मृत्युके भयसे पार हो सकेंगे।

महाभारतका आलोच्य विषय

श्रीसूत गोस्वामीजी कहने लगे—जो अनन्त-कोटि विष्णु ब्रह्माण्डके आदिपुरुष और अद्वितीय अधीश्वर हैं, जो स्थावर—जङ्गमात्मक निखिल जीवों के सृष्टा और पालन करनेवाले हैं, शास्त्र जिन्हें एकमात्र परब्रह्मके रूपमें निर्देश करते हैं, जिनकी प्रीति के लिए वास्तविक प्रवृत्त आगमें मंत्रोच्चारण-पूर्वक आहुति प्रदान करते हैं, जिनका दर्शन करने की लालसासे योगी-तपस्वी-मुनि आदि हजारों वर्षों तक ध्यान, मनन, तपस्या, कठोर व्रतादिका पालन करते हैं, विरक्त व्यक्ति मायाप्रपञ्च-स्वरूप संसारका परित्यागकर जिनकी उपासनाके लिए अपने प्रिय आत्मीय स्वजनोंको छोड़कर वनोंमें भ्रमण करते हैं—ऐसे सर्वजीवोंके अन्तरात्मा, परमधन स्वरूप उस

परतत्त्वको पानेके लिए लोग अत्यन्त दुष्कर कर्म भी करते हैं, उस अनादि अनन्त चराचरगुरु श्रीहरिके चरणोंमें प्रणामपूर्वक वेदव्यासजी द्वारा रचित परम पवित्र इतिहासका वर्णन कर रहा हूँ। इस विशाल विश्वमें महात्मागण इस इतिहासको कह चुके हैं, कह रहे हैं और भविष्यमें भी कहेंगे। ज्ञानकी परि-सीमा वेदशास्त्रके अनुगत होकर इस इतिहासकी महागुनि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने रचना की है। इसमें लौकिक आचार, व्यवहारकी रीति, और समस्त शास्त्रोंका अभिप्राय स्पष्ट रूपसे निर्देश किया है। यह भगवद्-गुणगाथा सूचक सुचारु शब्द और रमणीय वाक्योंसे परिपूर्ण है और विविध छन्दोंमें बद्ध और अलंकृत है। इसलिए तत्त्वदर्शिगण महाभारतका विशेषरूपसे आदर करते हैं।

श्रीवेदव्यासजीका त्रिकालज्ञत्व

सृष्टिके प्रारम्भमें यह संसार घोर अन्धकारसे आवृत था अनादि अनन्त, अनिर्वचनीय, सत्यस्वरूप परब्रह्म, निखिल ब्रह्माण्डोंके अन्तर्यामी रूपमें प्रकट हुए। पहले उन्होंने प्रजापति ब्रह्माकी सृष्टि की। उसके परपात स्वायम्भुव मनु, प्रचेता, दक्ष, सप्तर्षि, चोबह मनु, दस विश्वदेव, चारह आदित्य, षाष्ट्यसु, दसों दिशाएँ, संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, रात और दूसरे दूसरे सभी पदार्थोंकी सृष्टिकी। प्रलयकालके उपस्थित होने पर यह विशाल विश्व उस परब्रह्ममें सूक्ष्मरूपसे प्रवेश कर जाता है। युगके आरम्भमें जीव-जन्तु आदि सभी पदार्थ ही अपने-अपने आकार और स्वभावको प्राप्त होते हैं। ऐसे प्रलय उत्पत्ति, और स्थितिके द्वारा यह संसारचक्र निर्दिष्ट

रूपसे चल रहा है। महात्मा वेदव्यासजी जीवोंकी अवस्थितिका रहस्य, चारों वेद, धर्मार्थ-काम-मोक्ष प्रतिपादक विविध शास्त्र अपने त्रिकालज्ञत्व और योगबलके प्रभावसे जानते थे। इस महाभारतमें अशेष इतिहास, वेद-प्रतिपाद्य सनातन धर्म और तत्त्वज्ञान विस्तारपूर्वक और संक्षेपमें वर्णित हुआ है। विद्वानोंमें कोई-कोई इसका एकपर्व अथवा और कोई इसके गूढ़मर्मका अनुशीलनपूर्वक सर्वसाधारण के निकट इसका प्रचार करते हैं; कोई इसकी व्याख्या में सुनिपुण हैं और कोई इसकी धारणामें विशेष पारङ्गत हैं। श्रीवेदव्यासजी अपनी तपस्याके बलसे सनातन वेदशास्त्रका सार लेकर इस पवित्र इतिहासकी रचना की है।

श्रीव्यासजीका महाभारतका लेखक ढूँढ़ना

रचना करनेके पश्चात् शिष्योंको कैसे अध्ययन कराया जायगा—इस विषयमें व्यासजी चिन्तित हुए इसी समय प्रजापति ब्रह्मा श्रीव्यासजीके प्रीतिवर्द्धन और लोकहितके लिए वहाँ आविर्भूत हुए। श्रीव्यासजी उनके दर्शनसे विरिमत होकर उन्हें आसन प्रदान किया और अत्यन्त विनयपूर्वक खड़े रहे। उसके पश्चात् प्रजापतिके आदेशसे वेदव्यासजी आसन पर बैठे और विनयपूर्वक कहने लगे—मैंने एक अद्भुत काव्यकी रचना की है। उसमें वेद, वेदाङ्ग, उपनिषदोंका सार, इतिहास-पुराणोंका अनुसरण और मूल-मविष्य-वर्तमान-कालोंका सम्यक् रूपसे निरूपण किया है। बुढ़ापा, मृत्यु, भय, व्याधि, भाव, अभाव, नाना प्रकारके धर्म और आश्रम लक्षण, चारों वर्णोंकी व्यवस्था, पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, प्रह,

नक्षत्रादिका भी विवरण दिया है। भूतभावन भगवान जिस कारणसे दिव्य और मनुष्याकारमें जन्म ग्रहण करते हैं, उसका तत्त्वानुसन्धान, अत्यन्त पवित्र पुण्यक्षेत्र और तीर्थस्थानोंका विवरण और माहात्म्यका कीर्तन किया है। नद, नदी, समुद्र, पर्वत, गाँव, नगर, वन, उपवनादि, युद्धकौशल, लोक-यात्रादियोंका विवरण आदि प्रस्तुत किया है। किन्तु इस विश्वमें इसका कोई उपयुक्त लेखक मुझे ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता। तब ब्रह्माजीने कहा—वत्स ! इस भूमण्डलमें बहुतसे महान् मुनि हैं। परन्तु तुम विशेषरूपसे तत्त्वज्ञान सम्पन्न होनेके कारण उनसे श्रेष्ठ हो। तुमने जन्मसे लेकर अभी तक कभी भी भूठा व्यवहार नहीं किया और केवल सत्यका ही आश्रय किया है और सर्वदा वैदिक वाणीका उच्चारण करते हो। इस समय जब तुमने अपने स्व रचित महाभारतको काव्य कहा, तब यह निश्चय ही काव्य के रूपमें प्रसिद्ध होगा। तुम्हारा यह काव्य अन्यान्य कवियोंके काव्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। अतएव अभी तुम गणेशजीका स्मरण करो, वे तुम्हारे लेखक होंगे।

गणेशजीका महाभारतका लेखक होना

ब्रह्मा के चले जानेके पश्चात् भगवान् सत्यवती-नन्दन (वेदव्यासजी) ने गणेशजीका स्मरण किया। स्मरणमात्रसे ही वहाँ गणेशजी उपस्थित हुए। व्यास-देवजीने मक्ति और श्रद्धापूर्वक उनका यथोचित सत्कार किया और बैठनेके लिए आसन प्रदान किया। वे कहने लगे—हे गणोंके अधिदेव। विशुद्ध समाधि-द्वारा प्राप्त मनः संकल्पित महाभारत ग्रन्थ मैं कह रहा

हूँ। आप उसके लेखक बनें। विघ्नविनाशन गणेशजी वेदव्यासजीकी बात सुनकर कहने लगे—हे मुनि! यदि लिखते समय लेखनीको थोड़ा भी विभ्राम न मिले, तब मैं आपका लेखक बन सकता हूँ। व्यास-देवजी ने कहा—हे विनायकजी! परन्तु मैं जो कहूँगा, आप उसका यथार्थ अर्थ न जानकर उसे नहीं लिखेंगे। गणपतिजीने अपनी सम्मति प्रदान की। इसलिए वेदव्यासजी ने जगह-जगह पर कठिन-कठिन श्लोकों की रचना किया है। इस विषयमें उन्होंने यह कहा है कि इस महाभारत ग्रन्थमें अठारह हजार आठसौ ऐसे श्लोक हैं, जिसका यथार्थ अर्थ केवल मैं अथवा शुकदेव ही जानते हूँ। अस्पष्ट होनेके कारण व्यासजीके उस रहस्यको आज भी कोई समझ नहीं सका। गणेशजी सर्वज्ञ होने पर भी लिखते समय उन सभी श्लोकों का अर्थ जाननेके लिए थोड़ी देर चिन्ता करते थे। इसी बीचमें व्यासजी बहुतसे नये-नये श्लोकोंकी रचना कर डालते थे।

महाभारतकी महिमा

पहले सभी व्यक्ति अज्ञान-अन्धकारसे आच्छन्न थे, परन्तु महाभारतरूपी ज्ञानाञ्जन-शलाका (प्रदीप) ने उस आवरणको हटा दिया। भारतरूपी सूर्यने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदिका संक्षेप और विस्तार पूर्वक कीर्तन कर जीवोंके मोहान्धकारका निराकरण किया है। पुराणरूप पूर्णचन्द्रने उदय होकर भ्रुति-स्वरूप ज्योत्स्नाका प्रकाश किया है। इसके द्वारा मनुष्योंकी बुद्धिरूप कुमुदका विकास हुआ है। मोह-रूपी अन्धकारको दूरकर इतिहास स्वरूप उज्वल

प्रदीपने इस विशाल विश्व रूपी घरको आलोकित और सुप्रकाशित किया है।

महाभारत वृक्षका विषमय और अमृतफल

यह महाभारत पूर्ण अवयवयुक्त एक वृक्ष जैसे है। संप्रहाध्याय इसका बीज है, पौलोम और आस्तिक मूल है, शल्यपर्व अमभाग है, सम्भव पर्व स्कन्ध है, सभा और अरण्य इसकी कोठरी हैं, अरणीपर्व पर्वस्वरूप है, विराट् और उद्योगपर्व इसका सार है, भीष्मपर्व शाखा है, द्रोणपर्व पत्ते हैं, कर्णपर्व पुष्प स्वरूप है, शल्यपर्व सुगन्ध, स्त्री और ऐषिकपर्व इसकी सुशीतल छाया है, शान्तिपर्व इसका महाफल है, अश्वमेध अमृत रस है, आश्रमवासिक-पर्व इसका आश्रयस्थान है। जैसे मेघ सभीका उप-जीव्य है वैसे ही यह भारत-वृक्ष परवर्तीकालके सभी कवियोंका उपजीव्य है। महाभारतका दुर्योधन-कोपगण महावृक्ष है, कर्ण स्कन्ध है, शकुनि शाखा-स्वरूप है, दुःशासन फल और पुष्प एवं राजा धृतराष्ट्र इसका मूल है। युधिष्ठिर धर्ममय महावृक्ष हैं, अर्जुन स्कन्ध है, भीमसेन उसकी शाखा हैं, नकुल-सहदेव पुष्प और फल हैं, कृष्ण परब्रह्म हैं और उनके भक्त वैष्णव ब्राह्मणगण उसके मूल हैं।

महाभारत रचनाका सुप्राचीन पूर्व इतिहास

धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरके अप्रकट होने पर महर्षियोंने इस पवित्र भारतका प्रचार किया। पश्चात् सर्पयज्ञकालमें राजा जनमेजय और दूसरे दूसरे ऋषियोंके द्वारा प्रार्थना करने पर व्यासदेवजीने वैशम्पायनको महाभारत वर्णन करनेकी अनुमति देने

पर उन्होंने उस महान सभामें उसका कीर्तन किया। कुरुवंशीयोंका पूर्व इतिहास, गान्धारीकी धर्मशीलता, विदुरजीकी बुद्धि, कुन्तीका धैर्य, भगवान् वासुदेव की महिमा, पाण्डवोंकी सरलता, धृतराष्ट्रके पुत्रोंका दुर्बुद्धि, कृष्ण द्वैपायन व्यासजीने इन सभी विषयों का सविशेष वर्णन किया है। भारत संहिता पहले चौबीस हजार श्लोकोंमें लिखी गयी थी। उसमेंसे सपाख्यान भागका परित्याग किया गया था। परचात् महर्षिजीने डेढ़ सौ श्लोकमयी अनुक्रमणिका में महाभारतके सभी वृत्तान्तका सार संकलन किया। कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने इस महाभारतकी रचना कर सर्वप्रथम अपनी शिष्यमण्डलीको पढ़ाया। वेदव्यासजी ने साठ लाख श्लोकात्मक अन्य एक भारत संहिताकी भी रचना की। इसमेंसे ३० लाख देवलोकमें, १५ लाख पितृलोकमें, १४ लाख गन्धर्व-लोकमें हैं। और नरलोकमें एक लाख श्लोक अब भी वर्तमान हैं।

इस महाभारतका अध्ययन करनेसे पापका नाश पुण्यका संचय होता है। एक श्लोकका एक चरण उच्चारण करने पर भी पाप-भय दूर होता है। इस ग्रन्थमें मनुष्य, देवता, ऋषि आदियोंके धर्मा-

दिका विशेषरूपसे निरूपण किया है। जो परमपवित्र परब्रह्म हैं, जिनके प्रीतिविधानके लिये नित्य नैमित्तिक क्रिया-कलापोंका सदा अनुष्ठान किया जाता है, उस भूतभावन भगवान् वासुदेवका चरित्र इस ग्रन्थमें सम्यक् रूपसे वर्णन हुआ है। धर्मपरायण परमब्रह्मावान् व्यक्ति नियमपूर्वक इस भारतका अध्ययन करनेसे पापसे मुक्त होते हैं और सत्य एवं अमृतको प्राप्त करते हैं। जैसे दहीमेंसे मक्खन, मनुष्योंमें ब्रह्मण्यदेवोपासक (कृष्णभक्त) ब्राह्मण, चारों वेदोंमें आरण्यक, औषधियोंमें अमृत, हृदोंमें समुद्र, चतुष्पदों (पशुओं) में गाय श्रेष्ठ है, वैसे ही इतिहासोंमें वेदव्यास प्रणीत महाभारत श्रेष्ठ है। याज्ञवल्क्य महामादकेद्वारा पितृ पुरुषोंका पार-लौकिक आद्धादि करते हैं। भारत संहिताके एक चरणका पाठ करने पर भी पितृलोक तृप्त होते हैं। जो प्रति पर्वमें शुद्धमनसे इसके कुछ अध्याय पाठ करते हैं, उन्हें समग्र ग्रन्थ पाठ करनेका फल मिलता है। जो अट्टा और भक्तिके सहित इस महाभारतका भ्रवण करते हैं, वे दीर्घायु होकर भगवद्भक्ति प्राप्त करते हैं और देहत्याग करने पर भगवद्धाममें गमन करते हैं।

—त्रिविण्डित्वासी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराज

गोपाल-तापनी

(१)

किसी समय मुनियोंने ब्रह्माने निकट पूछा—
हे भगवन् ! सबसे श्रेष्ठ देवता कौन है ? किससे मृत्यु
को भी भय होता है ? किनका तत्त्व उत्तमरूपसे
जानने पर सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है और किसकी
प्रेरणा से यह संसार-चक्र घूमता है ?

ब्रह्माजीने कहा—श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ देवता
हैं। इन्हीं गोविन्दसे मृत्युको भी भय होता है। इन
गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णके तत्त्वको अच्छी तरहसे
जानने पर समस्त ज्ञान पूर्णरूपसे प्राप्त होता है।
'स्वाहा'—उसी मायाशक्तिसे प्रेरित होकर एक संसार-
चक्र चल रहा है।

मुनियोंने पुनः उनसे प्रश्न किया—श्रीकृष्ण
कौन हैं ? गोविन्द, गोपीजनवल्लभ, और स्वाहा
कौन हैं, वह आप हमें भली भाँति समझा
दाजिएगा।

ब्रह्माजीने उत्तर दिया—गौ, भूमि और वेद-
वाणीके ज्ञाता ही गोविन्द हैं। गोपीजन जीवोंके
अज्ञानके नाश करनेवाले अथवा अन्तरङ्गा शक्तिरूपा
ब्रजसुन्दरियाँ ही जिनकी गोपीजन हैं, जिन्होंने
चौसठ कला विद्याद्वारा उनको मुनिपुत्रा बनाया है,
उनके वल्लभ श्रीकृष्ण ही गोपीजनवल्लभ हैं।
उन्हींकी मायाशक्ति ही स्वाहा है। ये सभी परब्रह्म
स्वरूप हैं। इस प्रकारके श्रीकृष्णनामसे युक्त परब्रह्म
का ध्यान करनेसे, जप करनेसे उनके नामामृतका
आस्वादन कर जीव अमृत-स्वरूप हो जाता है।

मुनियोंने पूछा—श्रीकृष्णका ध्यान करने योग्य
कौन सा रूप है ? उनके नामामृतका रस कैसे
आस्वादन किया जा सकता है और किस प्रकार
उनका भजन होता है ?

ब्रह्माजीने कहा—

सत्पुण्डकरीकनयनं मेघामं बँचुताम्बरम् ।
द्विभुजं ज्ञानमुदयं वनमालिनमीश्वरम् ॥
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमताभितम् ।
दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपंकजमध्यगम् ॥
लालिन्दीजलकल्लोलसंक्षिमारुतसेवितम् ।
निन्तयं श्वेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः॥

भगवान श्रीकृष्णचन्द्रकी आँखें खिले हुए कमल
की तरह सुन्दर हैं, श्रीशङ्खकी कान्ति नवीन मेघकी
तरह है, उसमें पीताम्बर तेजोमय विद्युत्की तरह
शोभा पा रहा है, दोनों हाथ ज्ञानमुद्रासे पूर्ण हैं,
गलेसे लेकर श्रीचरणों तक वनमाला विराजमान है,
वे ब्रह्मादि देवताओंके शासनकर्ता और ईश्वर हैं,
गो-गोप-गोपीसे परिपेष्टित हैं, कल्पवृक्षके नीचे
अवस्थित हैं, उनका श्रीशङ्ख दिव्य आभरणोंसे
भूषित है, वे रत्न सिंहासनके रत्नमय कमलके मध्य-
भागमें विराजमान हैं। कालिन्दीके जलसे उठनेवाली
चञ्चल लहरियोंका स्पर्श करते हुए सुशीतल वायुके
द्वारा सेवित उन भगवान श्रीकृष्णचन्द्रकी मन ही
मन चिन्ता करनेसे भी संसारबन्धन दूर हो जात है।

'क' शब्द कालवाचक है, भूमिका बीज 'ल'

है, ई और चन्द्रके समान आकारयुक्त अनुस्वार— ये सभी मिलकर 'क्ली' अथवा काम बीज है। इसको पहले रखकर 'कृष्णाय' पदका उच्चारण होता है। यह प्रथम पद है। 'गोविन्दाय' द्वितीय पद है, 'गोपीजन' तृतीयपद है, 'वल्लभाय' चतुर्थपद है और 'स्वाहा' पञ्चमपद है। इस सम्पूर्ण मन्त्रको पञ्चपदी कहा जा सकता है। आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र और अग्नि—इन सभीका प्रकाश अथवा स्वरूप होनेके कारण यह चिन्मयमन्त्र पाँच अङ्गोंसे युक्त है। "क्ली कृष्णाय दिवात्मने हृदयाय नमः। गोविन्दाय भूच्यात्मने शिरसे स्वाहा। गोपीजन-सूर्यात्मने शिखायै वषट्। वल्लभाय चन्द्रात्मने कवचाय हूँ। स्वाहा अग्रयात्मने अस्त्राय फट्।" इस प्रकार पञ्चाङ्गोंको न्यासकर पञ्चपदी मंत्रका जप करनेसे स्थापक परब्रह्म श्रीकृष्णको प्राप्त होता है।

जो व्यक्ति इस पञ्चपदी मंत्रका जप करता है, वह शीघ्र ही श्रीकृष्णको प्राप्त करता है। श्रीकृष्णभक्ति ही कृष्णका भजन है। इसलोकमें या परलोकमें भोग की कामनाको सम्पूर्णरूपसे परित्यागकर सभी इन्द्रियोंके सहित मनको श्रीकृष्णमें सन्निविष्ट करना चाहिये। यही नैष्कर्म्य अथवा वास्तविक संन्यास है। वेदज्ञ ब्राह्मणगण 'गोविन्द' के रूपमें प्रतिष्ठित देवता (कृष्ण) की उपासना करते हैं। गोपीजनवल्लभ जीवमात्रके अकृत्रिम सुहृद हैं, गोपसुन्दरियोंके प्राणाधार हैं और सम्पूर्ण लोकके पालनकर्त्ता हैं। उन्होंने स्वाहा नामकी अपनी मायाशक्तिसे इस संसारकी सृष्टि की है। जिस प्रकारसे सारे संसारमें व्याप्त वायु प्रत्येक प्राणियोंके शरीरमें प्राण, अपान, समान, उदान और व्यानरूपमें विराजित है, उसी

प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भिन्न-भिन्न पञ्चनामोंमें प्रतीत होते हैं।

मुनियोंने पुनः प्रश्न किया—संसारके आश्रय-स्वरूप गोविन्दकी उपासना कैसे की जाती है ?

ब्रह्माजीने कहा—गृहको गोबरसे लीपकर उसमें धोया हुआ पीठ (पिंडी या चौकी) स्थापनपूर्वक उसमें सुवर्णमय अष्टदल कमल स्थापन करना चाहिये अथवा चन्दनके द्वारा अष्टदल कमल बनाना चाहिये। उसके मध्यभागमें षट्कोण अङ्कित कर, षट्कोणके मध्य भागमें कणिकामें कामबीज लिखना चाहिये। प्रतिकोणमें 'की कृष्णाय नमः' एक-एक अक्षर लिखना चाहिये। उसके पश्चात् अष्टदशाक्षर मंत्र और कामगायत्रीके द्वारा उसका वेष्टन (चारों ओर) करेंगे। उसके पश्चात् चतुर्व्युह, शक्ति, इन्द्रादि देवता और वसुदेवादि, पार्थ आदि निधि आदि अष्ट आवरण वेष्टित पीठका पूजा करेंगे। इस पीठका तीनों सन्ध्याओंमें ध्यान और पूजा करनेसे उपासक को चतुर्वर्गादि सब कृष्ण प्राप्त होता है।

मुनियोंने अष्टदशाक्षर मंत्रके सम्बन्धमें पुनः प्रश्न किया। ब्रह्माजीने कहा—मेरे दोपराद्धकालके समयमें यदि अपिकांश समय ही भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानमें व्यतीत किया जाय, तो भगवान् कृष्ण-चन्द्र कृपापूर्वक गोपवेश श्यामसुन्दरके रूपमें अपने आपको मेरे सामने प्रकाशित करते हैं। मेरे उनके श्रीचरणोंमें भक्तिपूर्वक प्रणत होने पर वे सृष्टि करने के लिये मुझे अष्टदशाक्षर मंत्रका उपदेश देकर अन्तर्धान हो जाते हैं। इसके पश्चात् जब मेरे हृदय में सृष्टि करनेकी वासना उठती है, तब इस अष्टा-

दशाक्षर मंत्रमें भावीजगतका स्वरूप दर्शन कराकर मेरे सम्मुख प्रकटित होते हैं । उस समय मैं 'क' अक्षरमें जल, 'ल' अक्षरमें पृथ्वी, 'ई' कारमें अग्नि, अनुस्वारमें चन्द्रमा और इन सभीके समष्टि (स्त्री) से सूर्य, 'कृष्णाय' शब्दसे आकाश और आकाशसे वायु, 'गोविन्दाय' पदसे कामधेनु और वेदादि विद्या को प्रकाशित करता हूँ । 'गोपीजनवल्लभाय' शब्दसे स्त्री पुरुषकी सृष्टि और 'स्वाहा' पदसे जड़ चेतनमय चराचर जगतकी रचना करता हूँ ।

प्राचीनकालमें इस अष्टादशाक्षर मंत्रको ओंकारके साथ जप कर राजर्षि चन्द्रध्वज मोहरहित होकर आत्म ज्ञान प्राप्त कर भगवान्को प्राप्त हुए थे ।

इस मंत्रके सम्बन्धमें मुनियोंका कहना है—प्रथम

पदसे पृथ्वी, दूसरे पदसे जल, तीसरे पदसे तेज (आग), चौथे पदसे वायु और पाँचवें पदसे आकाश की उत्पत्ति हुई है । इस पञ्च महाव्यवृत्तिस्वरूप अष्टादशाक्षर मंत्र श्रीकृष्णके स्वरूपको प्रकाशित करता है । परम विशुद्ध, विमल, शोकरहित, लोभादि शून्य, सब प्रकारके आसक्ति और वासनासे रहित गोलोकधाम इन पाँच पदोंसे अभिन्न है । वासुदेवसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है । वासुदेव (श्रीकृष्ण) का श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है । वे श्रीधाम वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे रत्नमय सिंहासनमें सदा विराजमान हैं । मैंने उन्हें उत्तम स्तुतिके द्वारा प्रसन्न किया था । (क्रमशः)

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिभूदेव श्रीती महाराज

श्रीश्रीचैतन्यशिक्षामृत

प्रथम वृष्टि

प्रथम धारा

श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ।

भ्रम-जनित, असम्पूर्ण, और परस्पर विवाद-युक्त सभी सिद्धान्त जिस कृष्णभक्तिमें सामंजस्यको प्राप्त होते हैं, उसी भक्तिदाता श्रीकृष्णचैतन्यको प्रणाम कर श्रीश्रीचैतन्य-शिक्षामृत नामक ग्रन्थका आरम्भ कर रहा हूँ ।

संसारमें तीन प्रकारके पदार्थ हैं—ईश्वर, जड़ और चेतन । (१) जिन सभी वस्तुओंमें इच्छाशक्ति नहीं है, वे जड़ हैं । मिट्टी, पत्थर, जल, अग्नि, वायु, आकाश, गृह, वन, धान्य, वस्त्र, आदि सभी इच्छाहीन वस्तुएँ जड़ पदार्थ हैं । मनुष्य पशु, पक्षी, कीट,

(१) सुपणवितो सदृशो सखायौ यदृच्छयती कृतनीडो च वृक्षे ।

एकस्तयोः खादति पिप्पलात्रमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥ (भा० ११।१।१६)

पतङ्ग आदि प्राणी चेतन हैं । इनमें विचारशक्ति और इच्छाशक्ति है । मनुष्यकी जैसी विचारशक्ति है, वैसी और किसी चेतन पदार्थकी नहीं है । इसलिए मनुष्यको समस्त चेतन और अचेतन पदार्थोंका राजा कहा जाता है । (२) ईश्वर समस्त चेतन और अचेतन पदार्थोंके सृष्टिकर्ता हैं । उनका जड़ शरीर न होनेके कारण हम उन्हें जड़ आँखोंसे देख नहीं पाते । वे पूर्णस्वरूप और शुद्ध चेतनपदार्थ हैं । वे हमारे सृष्टिकर्ता, पालक और नियन्त्रण करनेवाले हैं । (३) उनकी इच्छा करने पर हमारा मङ्गल होता है । उनकी इच्छा करनेसे हमारा सर्वनाश हो सकता है । वे भगवत् स्वरूपमें नित्य वैकुण्ठधाममें वास करते हैं । वे समस्त राजाओंके भी राजा हैं । उनकी इच्छासे समस्त जगतका कार्य चल रहा है ।

जैसे जड़ पदार्थका एक स्थूल आकार होता है, भगवानका वैसा कोई आकार नहीं है । इसलिए हम अपनी इन्द्रियोंके द्वारा उन्हें जान नहीं पाते । इसलिए वेदोंमें उन्हें निराकार कहा जाता है ।

प्रत्येक पदार्थका ही अपना-अपना एक स्वरूप होता है । अतएव ईश्वरका भी एक स्वरूप है । जड़ वस्तुमात्रका स्वरूप ही जड़मय है । चेतनपदार्थका स्वरूप चेतनमय है । हम चेतनपदार्थ हैं, परन्तु हम जड़ शरीरके द्वारा आवृत हैं । अतएव हमारा चेतनमय स्वरूप जड़मय शरीरके भीतर गुप्त हो पड़ा है । ईश्वर विशुद्ध चेतनमय हैं । अतएव चेतनमय स्वरूप को छोड़कर उनका और दूसरा स्वरूप नहीं है । वह चेतनमय स्वरूप ही उनका आकार है । उस आकार को हम केवल अपने शुद्ध चेतनमय आँखोंसे अर्थात् भक्तिके नेत्रोंसे ही देख सकते हैं । ॐ जड़ आँखोंसे उसे कदापि देख नहीं सकते ।

कुछ भाग्यहीन व्यक्ति ईश्वर पर विश्वास नहीं रखते । इसका कारण यह है कि उनकी ज्ञानमय आँखें मूढ़ित (मू'वी हुई) हैं । जड़ आँखोंसे ईश्वर के आकारको न देख सकनेके कारण वे यह सोचते हैं कि ईश्वर नामकी कोई भी वस्तु नहीं है । जन्मसे मध्ये व्यक्ति जैसे सूर्यके पकाशको जान नहीं पाते,

* सृष्टा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या वृक्षान् सरीसृपपशून् सगर्दशनत्तपात् ।

तैस्तेरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥ (भा० ११।६।२८)

+ स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य यत् स्वप्नजागरमुषुतिषु सद् बहिश्च ।

देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र । (भा० ११।३।३६)

* अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति ।

आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वलविग्रहस्य गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥ ब्रह्म संहिता ५।३२

* प्रेमाङ्गनच्छूरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति ।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥ ब्रह्म संहिता ५।३८

बैसे ही नास्तिक व्यक्ति ईश्वर विश्वास नहीं कर पाते। स्वभावतः सभी मनुष्य ही ईश्वरका विश्वास करते हैं। केवल जो सभी व्यक्ति बाल्यकालसे अस-त्सङ्गमें पड़कर कुतर्क की शिक्षा पाते हैं, हैं, वे क्रमशः कुसंस्कार परवश होकर ईश्वरका अस्तित्व नहीं मानते। इसमें उनकी ही हानि छोड़कर ईश्वरकी क्या हानि हो सकती है ?

वैकुण्ठधाम कहनेसे किसी एक जड़मय स्थानकी चिन्ता करना उचित नहीं है। मद्रास, बम्बई, काश्मीर, कलकत्ता, लण्डन, पेरिस आदि सभी स्थान जड़मय हैं। वहाँ जानेके लिए हमें बहुतसे जड़मय भूमि या देशका अतिक्रमण करना पड़ता है। जहाज या रेलगाड़ीसे जानेके लिए भी काफी समय लगता है। जड़शरीरका पदचालन कर जाना पड़ता है। किन्तु वैकुण्ठ में या कोई मवेश नहीं है। वह सम्पूर्ण जड़-जगतसे अतीत एक स्थान विशेष है।* वह चिन्मय,

नित्य और निर्दोष है। उसे जड़ आँखोंसे देख नहीं सकते या मनके द्वारा चिन्ता नहीं कर सकते। उस अचिन्त्य धाममें परमेश्वर विराजमान हैं। यदि हम उन्हें सस्तुष्ट कर सकते हैं, तो हम भी वहाँ पहुँचकर नित्यकाल ही परमेश्वरकी सेवा कर सकते हैं। इस संसारमें हम जिसे सुख कहते हैं, वह नित्य नहीं है, बल्कि कुछ क्षण रहकर फिर लुप्त हो जाता है। यहाँ सब कुछ दुःखमय है। जन्म प्राप्त करना बहुत कष्ट और दुःखोंसे पूर्ण है। जन्म होने पर आहारादिके द्वारा शरीरकी पुष्टि होती है। यदि आहारादिका अभाव हो तो वह दुःखजनक है। पीड़ा सर्वदा ही वर्तमान है। सर्दी, गर्मी आदि नाना प्रकारके कष्ट हैं। इन सभी कष्टोंको दूर करनेके लिए बहुत शारीरिक कष्ट स्वीकार कर अधिका संग्रह करना पड़ता है। गृहादिका निर्माण न करनेसे रहनेकी सुविधा नहीं होती। विवाहादि कर सन्तानादिका उत्पत्ति करनी पड़ती है। क्रमशः वृद्ध होने पर कुछ भी

* प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः ।

न क्वचि नान्य चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥

असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदादुरनीश्वरम् ।

अपरस्परसम्भूतं किमन्यन् कामहेतुकम् ॥ (गीता १९।७-८)

● श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुष कल्पतरवो ।

द्रुमा भूमिदचिन्तामखिगणिमयी तोयममृतम् ॥

कथा गानं नाह्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी ।

चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च ॥

सयत्र क्षीराब्धिः स्रवति सुरभीभ्यश्च सुमहान् ।

निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति नहि यत्रापि समयः ॥

भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति वं ।

विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये ॥ ब्रह्मसंहिता ५।५६

अच्छा नहीं लगता । तिसपर भी दूसरोंके साथ वाद-विवाद आदि कार्योंसे अनेक प्रकारकी यन्त्रणाएँ प्राप्त होती हैं । कहनेका तात्पर्य यह है कि संसारमें 'अमिश्र सुख' नामक कोई सुख नहीं है । सभी दुःखों और अभावोंके तात्कालिक निवृत्तिको साधारण व्यक्ति 'सुख' समझते हैं । ऐसे संसारमें रहना हमारे लिए कष्टकर है । परमेश्वरके वैकुण्ठधामको प्राप्त करने पर अनित्य सुख-दुःख कुछ भी नहीं रहता । अजस्र नित्यानन्दको हम प्राप्त कर सकेंगे । अतएव परमेश्वरको सस्तुष्ट करना ही हमारा कर्त्तव्य है ।

जबसे मनुष्यको ज्ञान पैदा होता है, तबसे ही परमेश्वरको सन्तोष करनेकी चेष्टामें लग जाना चाहिए । इसीमें उनका भ्रम है* । अभी हम संसारका सुख भोग करेंगे, और बादमें ब्रह्मावस्थामें ईश्वरका प्रीतिनिधान करेंगे, ऐसे सोचनेसे कुछ नहीं होगा । समय अत्यन्त दुर्लभ है । जिस दिनसे कर्त्तव्यज्ञान उत्पन्न होता है, उसी समयसे ही इस कार्यमें प्रयत्न

करना आवश्यक है क्योंकि विशेषकर मानवजीवन अत्यन्त दुर्लभ और अस्थिर है । कब मृत्यु होगा, यह कहा नहीं जा सकता । बाल्यकालमें परमेश्वर (भगवान) का भजन नहीं हो सकता, ऐसा सोचना अनुचित है । हम इतिहासमें देखते हैं कि ध्रुव और प्रह्लादने अत्यन्त शैशवावस्थामें ही परमेश्वरका प्रसाद लाभ किया था । यदि कोई मनुष्य किसी कार्यको कर सकता है, तो मनुष्य मात्र ही यत्न करनेपर उस कार्यको कर सकेगा, इसमें सन्देह ही क्या है ? विशेष कर पहलेसे ही जिस कार्यका अभ्यास किया जाता है, वह क्रमशः स्वभाव जैसे बन जाता है ।

परमेश्वरको सन्तोष + करनेके लिए मनुष्य जो चेष्टा करते हैं, उसे अवस्थाभेदसे चार विभागोंमें बाँट सकते हैं । वे हैं—भय, आशा, कर्त्तव्य बुद्धि और राग । नरक भय, अर्थात्भान, पीड़ा और मृत्यु से भयभीत होकर जो भगवानका भजन करते हैं, वे भयसे उत्तेजित होकर ईश्वरकी आराधना करते हैं ।

* कौमारे आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवताविह ।

दुर्लभं मागुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्षदम् ॥

ततो गतेन कुपितः शोभान भवमात्रितः ।

शरीरं पीरुणं गानक्ष विगच्छेत् पुष्कलम् ॥ (भा० ७।१।१, ५)

† लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहूसम्भवान्ते मानुष्यगर्भं वनित्यमपीह धीरः ।

तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥ (भा० ११।६।२६)

‡ लुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये किं तं गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।

धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥ (भा० ७।६।२३)

† धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्गं ईक्षा त्रयी नयदमो विविधा च वार्ता ।

मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः । (भा० ७।६।२४)

* गीत्यः कामाद्भ्रयात्कंसो द्वेषाच्चैचादयो नृपाः ।

सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्युयं भक्त्या वयं विभोः । (भा० ७।१।३१)

जो व्यक्ति संसारमें उन्नति पानेके लिए विषयसुखकी प्रार्थना करते हुए हरिभजन करते हैं, वे आशाके द्वारा चालित होकर ईश्वरका भजन करते हैं। किन्तु भगवानके भजनमें इतना आनन्द और सुख है कि पहले भय या आशासे उसमें प्रवृत्त होकर अन्तमें अनेक व्यक्ति ही भय और आशाको त्यागकर शुद्ध भगवद् भजनमें प्रवृत्त होते हैं। जो व्यक्ति सृष्टिकर्त्ताके प्रति कृतज्ञता स्वीकार करते हुए उनकी उपासना करते हैं, वे लोग कर्त्तव्य-बुद्धिसे प्रेरित होकर भगवद् भजन करते हैं। जो भय, आशा, कर्त्तव्य या बुद्धि के द्वारा प्रेरित न होकर स्वभावतः ही ईश्वरके भजन में आनन्द लाभ करते हैं, वे राग (प्रेम) के द्वारा उस कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। किसी एक वस्तुको देखने मात्रसे ही बुद्धि जिस प्रवृत्तिके द्वारा उसके प्रति विचार करनेके पूर्व ही दौड़ पड़ता है, उसी प्रवृत्तिका नाम ही राग है। परमेश्वरकी चिन्ता करने मात्रसे ही जिनके चित्तमें वह प्रवृत्ति उदित होती है, वे रागके द्वारा ईश्वर भजन करते हैं।

भय, आशा और कर्त्तव्यबुद्धिके द्वारा जो सभी उपासक ईश्वर भजनमें प्रवृत्त होते हैं, उनका भजन उतना शुद्ध नहीं है *। रागमार्गमें जो ईश्वरके भजनमें प्रवृत्त हैं, वे ही यथार्थ साधक हैं। जीव और ईश्वरमें परस्पर एक अत्यन्त गूढ़ सम्बन्ध है।

रागके उदय होने पर उस सम्बन्धका परिचय पाया जाता है। वह सम्बन्ध नित्य होने पर भी जड़बद्ध जीवोंमें वह गुप्त हो पड़ा है। अबसर पानेसे ही वह सम्बन्ध प्रकाशित हो पड़ता है। भय, आशा और कर्त्तव्यबुद्धिके द्वारा भजन करते-करते ही अनेक व्यक्तियोंमें वह सम्बन्ध प्रकाशित हुआ है। प्रबने पहले राज्यप्राप्तिके लिये हरिभजन किया था। परन्तु साधन करते-करते उनके हृदयमें उस पवित्र सम्बन्धजनित रागके उदय होनेसे उन्होंने सांसारिक सुखको पानेके लिये कोई वर नहीं माँगा।

भय और आशा बिलकुल हेय हैं। साधककी यदि सुबुद्धि हो, तो वह भय और आशाका परित्याग करता है और कर्त्तव्य बुद्धि ही उस समय प्रबल हो जाती है। भगवानके प्रति जब तक रागका उदय नहीं होता, तब तक साधक कर्त्तव्य बुद्धिका परित्याग नहीं कर सकता। कर्त्तव्य-बुद्धिसे दो प्रकारके विचारोंकी उत्पत्ति होती है। एक तो विधिके सम्मान है और दूसरा अविधिके त्याग। पूर्व पूर्व महापुरुषोंने भगवानका भजन करनेके लिये जिन सभी पद्धतियों (निधियों) को विचार द्वारा संस्थापित कर शास्त्रोंमें लिपिबद्ध किया है, उन्हींको विधि कहते हैं। *

* एहं तो साधन भक्ति दुइ त प्रकार ।

एक बंधीभक्ति रागानुगा-भक्ति आर ॥ (चं० चरितामृत मध्य २२।१०६)
रागहीनजन भजे शास्त्रेर आज्ञाय । बंधी भक्ति बलि तारे सर्वशास्त्रे गाय ॥
दास सखा पित्रादि प्रेयसीर गण । रागमार्गं निज-निज भावेर गणन ॥

(चं० चरितामृत मध्य २२।१०६, १५६)

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नोमेऽनिमिषो लेहि हेतिः ।

येषामहं प्रिय आत्मा मुताश्च सखा गुरुः मुहूदो देवनिष्ठम् ॥ (भा, ३।२५। ३६)

कर्त्तव्यबुद्धिके शासनसे ही शास्त्रोंके शासन और विधियोंका आदर होता है ।

देशचिदेश और द्वीपद्वीपान्तरनिवासी मनुष्योंके इतिहास और वृत्तान्तकी आलोचना करने पर यह स्पष्ट ही जाना जा सकता है कि ईश्वर विश्वास मनुष्य जातिका एक सर्वसाधारण धर्म है । असभ्य वन्यजातिके मनुष्य पशुओंकी तरह पशुमांसका भक्षण कर जीवननिर्वाह करते हैं । फिर भी सूर्य और चन्द्र, बड़े-बड़े सभी पर्वतों, बड़े-बड़े नद-नदियों, और प्रकाण्ड वृक्षोंको दण्डवत् प्रणामपूर्वक उन्हें दाता और नियन्ता समझकर उनकी पूजा करते हैं । इसका क्या कारण है ? जीव नितान्त बद्ध होने पर भी जब तक उसकी चेतनता आच्छादित नहीं होती, तब तक उसमें चेतन धर्मका परिचयस्वरूप ईश्वर विश्वास कृष्ण न कृष्ण अंशोंमें जरूर प्रकाशित होगा ॐ । मनुष्य जब सभ्य अवस्थाको प्राप्त कर नानाप्रकारके विद्याओंकी आलोचना करता है, तब कुतर्कके द्वारा उसकी चेतनता आच्छादित होने पर वह तारितन्त्रवादी या अभेद निर्वाणवादी हो जाता है । ये सभी कुविश्वास केवल अप्राप्तबल चेतनवस्तु के अश्वस्थताके लक्षण हैं—यही समझना चाहिये । नितान्त असभ्य अवस्था और सुन्दर ईश्वरविश्वास-पूर्ण अवस्थाके बीचमें तीन गौण अवस्थाएँ देखी

जाती हैं । उन तीनों अवस्थाओंमें ही नास्तिक्यवाद, जड़वाद, सन्देहवाद और निर्वाणवादरूपी पीड़ाएँ जीवोंकी उन्नतिमें बाधा देती हैं और किसी-किसी व्यक्तिको विपरीत मार्गमें ले जाती हैं । उन-उन अवस्थाओंमें सभी व्यक्ति ही इन वादोंके द्वारा आक्रान्त होंगे, ऐसा नहीं । जो व्यक्ति इन सभी रोगोंसे पीड़ित हैं, वे उन उन अवस्थाओंमें आबद्ध होकर उच्च जीवनका अधिकार लाभ नहीं करते । असभ्य वन्यजातिके व्यक्ति सभ्यता, नीति और विद्याकी निपुणतासे अति शीघ्र ही वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हैं । ऐसा करने पर वे भगवत् भजनके अनुकूल भक्तजीवन लाभ करते हैं । यही मानव-जातिका सामानिक उन्नतिका क्रम है । बाधाके रूपमें रोगोंके उपस्थित होने पर जीवनकी अस्वाभाविक अवस्थाकी उत्पत्ति होती है ।

मनुष्योंने भिन्न-भिन्न देशोंमें एवं भिन्न-भिन्न द्वीपोंमें रहकर भिन्न-भिन्न प्रकृतिको (स्वभावको) अपनाया है । मनुष्योंकी मुख्य स्वभाव सर्वत्र एक ही प्रकारका है । गौण स्वभाव ही भिन्न-भिन्न है । मनुष्योंकी मुख्य प्रकृति एक होने पर भी संसारमें ऐसे दो मनुष्य पाये नहीं जा सकते, जिनका गौण प्रकृति सम्पूर्णरूपसे एक समान हो । एक गर्भमें जन्म ग्रहण करनेपर भी दो भाईयोंकी आकृति और प्रकृति

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ।

मयादी ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥

तेन प्रोक्ता स्वपुत्राय मनवे पूर्वजाय सा । ततो भृगवादयाऽगृह्णन् सप्तब्रह्ममहर्षयः ॥

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रो देवदानवगुह्यकाः । मनुष्याः सिद्धागन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः ॥

रुदेवा किन्नराः नाग रक्षःकिंपुरुषादयः । बहवस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः ॥

याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां पतयस्तथा । यथा प्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि ॥

एवं प्रकृतिर्वचिभ्याद्विद्यन्ते मतयो नृणाम् । पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाषण्डमतयाऽपरे ॥ (भा. ११।१४।३-८)

परस्पर भिन्न-भिन्न होती हैं और कभी भी सब प्रकारसे एक जैसी नहीं होती, तब भिन्न-भिन्न देशमें जन्म ग्रहणकर सभी मनुष्य एक जैसे कैसे बन सकते हैं ? भिन्न-भिन्न देशोंकी जल, वायु, पर्वत, वनादियों का सन्निवेश, खाद्यद्रव्यादि और परिच्छदोपयोगी सभी द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं । इससे उन-उन देशोंमें उत्पन्न मनुष्योंकी आकृति, व्यवहार, परिच्छद (पहनाव) और आहार स्वभावतः भिन्न-भिन्न हो पड़ते हैं । मनके भाव भी प्रत्येक देशमें भिन्न-भिन्न हैं । उसके अन्तर्गत ईश्वरभाव मुख्यांशमें एक होने पर भी गौणांशमें भिन्न-भिन्न प्रकारका हो जाता है । इसलिए देश विदेशोंमें जिस समय असम्य अवस्था को अतिक्रम कर मनुष्योंकी क्रमशः सम्य अवस्था, वैज्ञानिक, अजगत्, नैतिक अपरथा और भक्तापरथा प्राप्त होती हैं, तब क्रमशः भाषा-भेद, परिच्छद-भेद, भोज्य-भेद और मनोभाव-भेदके द्वारा ईश्वरभजन-प्रणाली भी भिन्न-भिन्न हो पड़ती है । निरपेक्ष होकर विचार करने पर ऐसे गौणभेदसमूहके द्वारा कोई हानि नहीं हो सकती । मुख्य भजनविषयमें समानता रहनेसे ही फलकालमें कोई दोष नहीं रह जाता । अतएव श्रीश्रीचैतन्यमहाप्रभुकी यही आज्ञा है कि विशुद्धसत्त्वस्वरूप भगवानका भजन करो, परन्तु अन्यान्य अधिकारियोंकी भजन-प्रणालीकी निन्दा नहीं करना * ।

इन सभी कारणोंसे भिन्न-भिन्न देशीय मनुष्योंके द्वारा प्रचारित भिन्न-भिन्न धर्मोंमें कुछ भेद देखे जाते हैं ।

(१) आचार्यभेद ।

(२) उपासकोंकी मनोवृत्ति और भजन-अनुभाव भेद ।

(३) उपासनाकी प्रणालीभेद ।

(४) उपास्यतत्त्वके सम्बन्धमें भाव और क्रिया भेद ।

(५) भाषाभेदानुसार नाम और वाक्यादि भेद ।

आचार्यभेदसे किसी देशमें ऋषियोंका, किसी देशमें मुहमदादि प्रचारकोंका, किसी देशमें ईसा मसीह आदि धर्मात्माओंका और अन्यान्य देशोंमें कई विद्वानोंका विशेष सम्मान किया जाता है । उन-उन सभी आचार्योंका यथायोग्य सम्मान करना ही उन-उन देशवासियोंका कर्तव्य है । किन्तु अपने देशके आचार्योंके जो शिष्याएँ वी हैं, वे उन देशोंके आचार्योंकी शिष्याओंकी अपेक्षा भेद्य हैं, निष्ठाभाषके लिये ऐसा विश्वास करने पर भी अन्यान्य देशोंमें ऐसे विवादजनक विचारोंका प्रचार करना उचित नहीं है । इससे संसारका कोई कल्याण नहीं होता । उपासकोंकी मनोवृत्ति और भजन अनुभावके भेदसे किसी देशमें आसनपर बैठकर, न्यास, प्राणायाम आदि क्रियाओंके द्वारा भजन होता है, कहीं मुक्तकच्छ होकर अपने भजनकी मुख्य मन्दिरकी ओर खड़े होकर और नीचे गिरकर दिन और रातमें पाँचवार उपासना होती है, कहीं पर घुटनोंको टेककर हाथोंको जोड़ते हुए अपनी दीनताको प्रकाशकर और प्रभुके यशोंका गान करते हुए भजनमन्दिर या घरमें भजन होता है । इसमें भी भजनकालमें विशेष

* अन्यदेव अन्यशास्त्र निन्दा ना करिवे । (चं. च. मध्य २२। ११६)

श्रद्धां भागवते शास्त्रे अनिन्दाऽन्यत्र चापि हि । (भा. १।१।२७)

विशेष पहनाव, आहार, व्यवहार, पवित्रता, अप-
वित्रता आदि नानाप्रकारके स्थानीय विचार देखे
जाते हैं ।

भिन्न-भिन्न धर्मोंकी उपासनाओंको देखनेसे
उपासनाकी प्रणालीमें भेद अवश्य ही देखे जा
सकते हैं ।

भिन्न-भिन्न धर्मोंमें उपास्यतत्त्वके स्वरूपमें
भाव और क्रियाभेद देखे जाते हैं । कोई-कोई चित्त
में भक्तिपरिप्लुत (भक्तिपूर्ण) होकर आत्मामें, मन
में और संसारमें परमेश्वरकी प्रतिच्छविरूपी श्रीमूर्ति-
की स्थापना करते हैं । उसमें तादात्म्यभावयुक्त
होकर (उसे साक्षात् भगवान् ही समझकर) उसका
अर्चन करते हैं । किसी-किसी धर्ममें तर्कप्रियताके
कारण मन ही मन एक ईश्वरभावका चिन्तन कर
उचीरूपसे उपासना करते हैं । ऐसे व्यक्ति प्रतिमूर्ति
को स्वीकार नहीं करते । परन्तु वस्तुतः विचार करने
पर सभी प्रतिमूर्तियाँ ही हैं । ❀

भाषाभेदके अनुसार भिन्न-भिन्न जगत्कि विशेष
विशेष नामोंसे परमेश्वरका नामगणन करते हैं ।
धर्मको भी भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं । मज्जा-
कालीन वचन भी सभी भिन्न-भिन्न होते हैं ।

इन पाँच प्रकारके भेदोंसे संसारके भिन्न-भिन्न
धर्मसमूह परस्पर अत्यन्त भिन्न हो पड़ते हैं । ऐसा
होना स्वाभाविक ही है । किन्तु यह पार्थक्य अथवा
भेदके कारण परस्पर विवाद करना अत्यन्त अन्याय
और हानिकारक है । दूसरोंके भजनके समय उसके
भजन-स्थानमें उपस्थित रहते समय ऐसे रहना उचित
है जैसे अपने ही उपास्य परमतत्त्वकी किसी भिन्न
प्रकारसे उपासना हो रही है । मेरे भिन्न अभ्यासके
कारण मैं इस प्रणालीमें अच्छी तरहसे प्रवेश कर
नहीं पाता । परन्तु इसकी अपेक्षा मेरी अपनी प्रणा-
लीमें मुझे अधिकतर भावोदय हो रहा है । परमतत्त्व
केवल एक ही हैं ! यहाँ जो लिङ्ग (चिन्ह) देख रहा
हूँ, उसको मेरा दृग्दृग् पणाम है और मैं इस
भिन्न लिङ्गधारी मेरे प्रभुके निकट यह प्रार्थना करता
हूँ कि व मेरे उपादेय (सुविधाजनक) स्वरूपमें मेरे
प्रेमकी पुष्टि करें । ❀

जो ऐसा व्यवहार न कर अपनेसे भिन्न प्रणाली
के प्रति द्वेष, द्वेष, असया या निन्दा करते हैं, वे
अत्यन्त अस्मर और हतबुद्धि (बुद्धिरहित) हैं । वे
अपने परम प्रयोजनका चिन्ता आदर नहीं करते,
जितनाकी वृथा विवादका करते हैं ।

- ❀ अर्चायां स्वण्डिलोऽग्नी वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजे ।
द्रेव्येषु भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया ॥
शैली दाहमयी लौही लेप्पा लेख्या च संकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता (भा० ११।२७।६, १२)

- ❀ श्रीनाथे जानकीनाथे चाभेदे परमात्मनि ।

तथापि मम सर्वस्वः रामः कमललोचनः ॥ (हनुमानजीके वचन)

इसमें केवल एक विषय विवेचनीय है। भजन प्रणालीकी निन्दा करना असारता तो है ही, परन्तु यदि कोई वास्तविक दोष देखे जाते हैं, तो उसका कदापि आदर नहीं किया जा सकता; परन्तु सदुपायोंके द्वारा उसे सुधारनेसे जीवोंका मंगल होगा। इसीलिए श्रीश्रीचैतन्यमहाप्रभुने बौद्ध, जैन, और निर्विशेषवादियोंके साथ विचार कर उन्हें सत्पथमें लाये थे। श्रीमन्महाप्रभुजीका चरित्र उनके सभी भक्तोंके लिए सर्वत्र ही आदर्शस्वरूप होना उचित है।

जिस धर्ममें नास्तिक्यवाद, सन्देहवाद, अनात्मवाद, स्वभाववाद और निर्विशेषवाद रूपी सभी अनर्थ हैं, भक्त लोग उस धर्मको धर्म नहीं मानेंगे। उस धर्मको छल-धर्म, धर्माभास, या अधर्म ही

जानेंगे। उनके उपासकोंकी अवस्था शोचनीय जानेंगे जहाँ तक हो सके, वहाँ तक जीवोंको इन सभी अनर्थों से रक्षा करनेकी चेष्टा करेंगे।

विमलप्रेम ही जीवोंका नित्यधर्म है। पहले कहे गये पाँचों भेद देखे जानेपर भी जिस धर्मका विमल-प्रेम ही उद्देश्य है, वही धर्म धर्म है। बाहरी भेदको लेकर तर्क करना अनुचित है। धर्मका उद्देश्य यदि शुद्ध है, तो उसका सब कुछ ही सल्लक्षणयुक्त है। नास्तिक्यवाद, सन्देहवाद, जड़वाद, अनात्मवाद अर्थात् कर्मवाद, स्वभाववाद और निर्विशेषवाद स्वभावतः ही प्रेमविरुद्ध हैं। इसे आगे बतलाया जायगा।

ऋणप्रेम ही विमलप्रेम है। प्रेमका यही धर्म

• विधर्मः परधर्मश्च ज्ञानात् उपमाच्छलः ।

शुभाशुभात्ताः परधर्मोऽन्यत्रोदितः ॥

धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यत्रोदितः ।

उपधर्मस्तु पादधर्मो दम्भो वा शत्रुभिर्जलः ॥

यस्तिबद्ध्या कृतः पुंभिराशातो ह्याशगात् तृणत् ।

स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेत्रः प्रज्ञानये ॥ (भा. ७।१५।१२-१५)

• धर्मः स्तनुष्ठितः पुंसां विरवकसेनकथासु यः ।

जोन्मकनेरु गति रति नग एव हि केपणम् ॥ (भा. १।२।१०)

१. भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ।

अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयाम् ॥

यया सम्मोहितो जीवो आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।

परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते ॥

अनर्थोपशमं साक्षात् भक्तियोगमधोलजे ।

लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥

गस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परम पुरुषे ।

भक्तिरुत्पद्येत पुंसां शोकमोहभयापहा ॥

है कि वह किसी तत्त्वके आश्रयमें रहता है और किसी एक तत्त्व अथवा वस्तुको विषयके रूपमें ग्रहण करता है । विषय और आश्रयके बिना प्रेमका कोई भी परिचय नहीं रहता । जीवोंका हृदय ही प्रेमका आश्रय है । एकमात्र कृष्ण ही प्रेमके विषय हैं । पूर्ण विमलप्रेमके उदय होनेसे ही उपास्य वस्तुका ब्रह्मत्व, ईश्वरत्व और नारायणत्व श्रीकृष्णस्वरूपमें पर्यवसित हो जाते हैं । इस सारे ग्रन्थका पाठ कर जितना ही प्रेमकी आलोचना करेंगे उतना ही इसकी प्रतीति (अस्तित्व पर विश्वास) होगी ।

कृष्णनामके सुननेमात्रसे ही जो व्यक्ति नामको लेकर विवाद करते हैं, वे यथार्थ तत्त्वको जाननेसे वञ्चित हैं । नामको लेकर विवाद करना निरर्थक है । नाम जिन विषयकी ओर लक्ष्य करता है, वही जीवोंका प्राण्य है ।

सर्वशास्त्रशिरोमणि श्रीमद्भागवतमें जिस श्रीकृष्णचरितका वर्णन हुआ है, वह विद्वत् प्रवर श्रीन्यासदेवजीका सान्धान् स्याद्विद्वत्तत्त्व है । नारदनाके उपदेशसे न्यासदेवने जिस समय भाक्त रूपी सहज समाधिका अवलम्बन किया तब श्रीकृष्ण स्वरूपका दर्शन किया । जिससे इन परमगुरुकृष्ण में जीवोंका शोक, मोह और भयसे रहित उपाधि-

रहिता भक्ति (प्रेम) का उदय हो, उसीरूपमें उनके (श्रीकृष्णके) चरित्रका उन्होंने वर्णन किया । श्रीकृष्णजीके चरित्रको पाठ या श्रवण करनेसे अधिकारभेदसे जीवोंकी दो प्रकारकी प्रतीतियाँ होती हैं । इन दोनों प्रतीतियोंका नाम है—विद्वत् प्रतीति और अविद्वत् प्रतीति । जिस वक्त प्रकट समयमें श्रीकृष्ण लीलाओंको जड़ नेत्रोंसे देखा जाता है, वह विद्वानों (भक्तों) के लिये विद्वत् प्रतीति और जड़ बुद्धियुक्त व्यक्तियोंके लिये अविद्वत्प्रतीति है । विद्वत्प्रतीति और अविद्वत्प्रतीतिको समझनेके लिये षट्-सन्दर्भ, बृहत् भागवतामृत या मेरे द्वारा रचित श्रीकृष्णसंहिताका भली प्रकारसे पाठ कर उपयुक्त व्यक्तिके निकट आलोचना करेंगे । यहाँ इसकी विस्तार पूर्वक व्याख्या करना असम्भव है । मंत्तेपमें यही कहा जा सकता है कि विद्याशक्तिके आश्रयमें जिस प्रतीतिका उदय होता है, वही विद्वत्प्रतीति है । अविद्यावृत्तिके आश्रयमें जिस प्रतीतिका उदय होता है, वही अविद्वत्प्रतीति है ।

श्रीकृष्णलीलाओंकी अविद्वत्प्रतीतिको लेकर ही सभी विवाद उपस्थित होते हैं । विद्वत्प्रतीतिमें कोई भी विवाद नहीं है । ❀ जिनको परमाथ लाभ करने की इच्छा है, वे विद्वत्प्रतीतिको शीघ्र ही प्राप्त करें ।

* न चास्य कश्चिन्निपुरोऽन धातुरवैति जन्तुः कुमतीष ऊतीः ।

नामानि रूपाणि मनोवचोभिः सन्तन्वतो नटचर्माभिवाङ्मः ॥

स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य स्थाङ्गपाणोः ।

योऽमाथया संततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥ (भा० १।१।३७-३८)

वृथा अविद्वत्प्रतीतिको लेकर विवाद कर अपने स्वार्थ की हानि स्वीकार करनेकी क्या आवश्यकता है ?

विद्वत्प्रतीतिका थोड़ासा दिग्दर्शन करनेकी चेष्टा मैंने की है। जो व्यक्ति जड़चिन्ताको अतिक्रम कर चित्तत्त्वकी उपलब्धि कर सकते हैं, उन लोगोंके लिए विद्वत्प्रतीति होना सम्भव है। वे चिन्मय नेत्रों के द्वारा भगवान् कृष्णका रूप दर्शन करते हैं, चिन्मय कानोंसे कृष्णलीलाका श्रवण करते हैं, चिन्मय रसके द्वारा कृष्णको सब प्रकारसे आस्वादन करते हैं। समस्त कृष्णलीला ही अप्राकृत और जड़ानीत है। कृष्णकी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा कृष्ण जड़नेत्रोंसे देखे जा सकते हैं, परन्तु स्वभावतः नेत्र इत्यादि सभी जड़ेंद्रियाँ जगत् साक्षात्कार नहीं कर सकती। मकड़ तन्त्रमें जो सभी भगवान्की लीलाएँ जड़ इन्द्रियोंके गोचर होती हैं, वे भी विद्वत्प्रतीतिके बिना वस्तु साक्षात्काररूप फल प्रदान नहीं कर सकती। इसलिए साधारण रूपमें अविद्वत्प्रतीति ही प्राप्त होती है। अविद्वत्प्रतीतिके द्वारा कृष्णतत्त्वको अनेक व्यक्ति ही अनिन्द्य तन्त्र समझते हैं। वृष्णके शरीरका जन्म, वृद्धि, स्रग् आदिकी कल्पना करने हैं। अविद्वत्प्रतीतिके द्वारा ही निर्विशेष अवस्था 'सत्य' और सविशेष अवस्था 'पापञ्चिक' जान पड़ती

है। इसलिए कृष्णतत्त्वमें विशेषताके रहनेसे वह भी प्रापञ्चिक जान पड़ता है।

परमतत्त्व क्या वस्तु हैं, युक्तिके द्वारा इसका निर्णय किया नहीं जा सकता। अपरिमेय पदार्थके सम्बन्धमें मनुष्योंकी सीमायुक्त युक्ति क्या कर सकती है? अतएव जीवों जो भक्तिवृत्ति है, उसके द्वारा ही परमतत्त्व जाने और आस्वादन किये जा सकते हैं। विमलप्रेम ही प्रारम्भिक अवस्थामें 'भक्ति' कहलाता है। बिना कृष्णकी कृपासे विद्वत्प्रतीतिका उदय नहीं होता, क्योंकि कृष्णकी कृपासे ही बिद्या शक्ति जीवों की सहायता करती हैं।

परमतत्त्वके सम्बन्धमें संसारमें जितने भी भाव हैं, उन सभी भावोंकी अपेक्षा कृष्ण-स्वरूपका भाव ही विमलप्रेमका एकमात्र अधिक उपयोगी भाव है। कुरानमें जिस अल्लाहको माना गया है उनमें विमलप्रेम होना असम्भव है। अतिप्रियबन्धु पैगम्बर भी उनके स्वरूपका साक्षात्कार नहीं कर सकते। क्योंकि जगत्परमत्त्व सत्यभावगत होनेपर भी ऐतर्प्यवशात् जगत्करते दूर रहते हैं। इसीलिए 'गोड' (God) भी अत्यन्त दूरगततत्त्व हैं। ब्रह्मकी तो बात ही नहीं है। नारायण भी जीवोंके सहज प्रेमके द्वारा प्राप्य

● विद्याऽविद्ये मम तनू विद्वयुद्धव शरीरिणाम् ।

मोक्षबन्धकरी माद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामतेः ।

बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ॥ (भा० ११।११।३-४)

● अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माशनावृतम् ।

आनुकूल्येण कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥ (भा० २० सि० पूर्वलहरी १।२)

नहीं हैं। कृष्ण ही एकमात्र विमलप्रेमके साक्षात् विषयके रूपमें अपने ब्रजधाममें सर्वदा विराजमान हैं।

भगवान् कृष्णका धाम आनन्दमय है। वहाँ ऐश्वर्य परिपूर्ण मात्रामें रहने पर भी उसका वहाँ प्रभाव नहीं है। वहाँ सभी कुछ माधुर्यमय और नित्यानन्द स्वरूप है। फल, फूल, किरालय ही वहाँ की सम्पत्ति है। गोधन समूह ही प्रजाएँ हैं। गोप-बालक एवं गोप ही सखा हैं और गोपियाँ ही सखियाँ हैं। नवनीत (मक्खन) और दही दूध ही वहाँ के खाद्यद्रव्य हैं। सभी बन और उपवन कृष्णप्रेममय हैं। यमुनाजी कृष्णकी सेवामें अनुरक्ता हैं। सारी प्रकृति ही कृष्णकी परिचारिका है। जो नन्दु (भगवान्) आनन्द परब्रह्मके रूपमें सभी जगत्सिद्धोंके पूजा और आराधनाके धर्म करते हैं, वे उस धामको एकमात्र प्राणधन हैं। वे अपने भक्तोंके कभी तुल्य हैं, और कभी उनसे भी हीन हैं।

ऐसा न होनेसे क्या जुड़ जीव परमतत्त्वके साथ प्रेम कर सकता है ? परमतत्त्व परमलीलामय, स्वेच्छामय, और जीवोंके विमलप्रेमके लिप्य हैं।

स्वभावतः जो ईश्वर हैं, वे क्या मनुष्योंकी तरह पूजाके लिए लालसायुक्त हैं, या पूजाके द्वारा सन्तुष्ट होकर स्वयं सुख प्राप्त करते हैं ? अपने सारे ऐश्वर्यको माधुर्यके द्वारा छिपाकर परम-चमत्कार लीलारसके आधार स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र अप्राकृत वृन्दावनमें रसके अधिकारी जीवोंके साथ समता और हीनता स्वीकार करते हुए स्वयं आनन्द प्राप्त करते हैं।

जो व्यक्ति निगलमेमको ही एकमात्र पगोजन मानते हैं, वे कृष्णको छोड़कर और किसे प्रेमके विषयके रूपमें वरण कर सकते हैं ? यद्यपि भाषाके भेदसे कृष्ण, वृन्दावन, गोप, गोपी, गोधन, यमुना, कदम्ब आदि सभी शब्द कहीं-कहीं देखे भी नहीं जाते, तथापि विशुद्ध प्रेमसाधकोंको उन उन लक्षणों से लक्षित नाम, धाम, उपकरण, रूप और लीला आदिको प्रकारान्तर और वाक्यान्तरमें अवश्य ही स्वीकार करना होगा। चातेपव कृष्णको छोड़कर विशुद्ध प्रेमके और कोई विषय नहीं हैं।

जब तक विशुद्ध भाव (प्रेम) का उदय नहीं होता, तब तक साधक अवश्य ही कर्तव्य बुद्धिसे साथ गौण और मुख्यविधिका अवलम्बन करते हुए कृष्णानुरीलान करते रहेंगे। (द्वितीय वृष्टि देखिए)

• तस्मादधश्च कामश्च जर्माश्च यदपान्रयाः ।

भजतानीह्याऽऽत्मानमनीहं हरिरीश्वरम् ॥

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वामुरात्मजाः ।

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुजता ॥

न दानं न तपो नेज्या न शीचं न व्रतानि च ।

प्रीयतेऽमलया भक्तया हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥

ततो हरी भगवति भक्तिं कुह्यत दानवाः ।

आत्मोपम्येन सर्वत्र सर्वं भूतात्मनीश्वरे ॥ (भा० ७।७।४१-४४)

गहरे रूपसे विचार करनेपर यह देखा जाता है कि कृष्णप्रेमको पानेके केवल दो ही मार्ग हैं—विधि और राग। राग दुर्लभ है। रागके उदय होनेसे विधि की अपेक्षा नहीं रह जाती। जब तक रागका उदय नहीं होता, तब तक विधिका अवलम्बन करना ही मनुष्योंका प्रधान कर्तव्य है। अतएव शास्त्रोंमें दो मार्गका उल्लेख है—रागमार्ग और विधिमार्ग। रागमार्ग यिलकुल स्थित है। अतएव नमकी विशेष व्यवस्था नहीं है। जो व्यक्ति अत्यन्त भाग्यवान और उच्चाधिकारी हैं, वे ही इस मार्गका अवलम्बन करने में समर्थ हैं। इसलिए यहाँ पर विधि मार्गकी व्यवस्थाको ही पद्धतिक्रमसे लिखा गया है।

दुर्भाग्यवशतः जो व्यक्ति परमेश्वरको नहीं मानते, वे भी अपने जीवननिर्वाहके लिए कुछ विधियोंका पालन करते हैं। वे उन सभी विधियोंको 'नीति' कहा जा सकता है। जिस नीतिमें भगवान की चिन्ताकी व्यवस्था नहीं है, वह नीति दूसरे प्रकार से सुन्दर होनेपर भी मानव-जीवनको सार्थक बनाने में असमर्थ है। भगवानमें निश्चाय और उनके प्रति कर्त्तव्यकी व्यवस्था होने पर वह नीति ही गुरुत्व जीवनकी विधि कही जा सकती है। विधि दो प्रकार की है—मुख्य और गौण।

ईश्वरको सन्तोष करना ही जब जीवनका एकमात्र लक्ष्य है, तब जो विधि अक्त तात्पर्यको अव्यवहितरूपमें लक्ष्य करती है, उसी विधिको मुख्य विधि कहते हैं। जो विधि कुछ बाधाके साथ उस लक्ष्यकी ओर लक्ष्य करती है, वही विधि गौणविधि है। एक

उदाहरण देनेसे यह विषय स्पष्ट होगा। प्रातःस्नान करना एक विधि है। प्रातःस्नान करनेसे शरीर स्निग्ध और रोग शून्य होता है। इससे मन स्थिर होता है। मन स्थिर होने पर भगवानकी उपासनाकी जा सकती है। यहाँ पर भगवत् उपासना, जो जीवन का तात्पर्य है, वह व्यवधान (बाधा) शून्य नहीं हुआ। क्योंकि स्नान करनेका व्यवधान शून्य फल—शरीरकी स्निग्धता है। यदि शरीरकी स्निग्धताको इस विधिका चरम फल माना जाय, तो ईश्वर उपासना रूपी फल प्राप्त नहीं होता। ईश्वर उपासना रूप फल और स्नानविधिके बीचमें अन्यान्य फलोंके रहनेसे ये सभी फल बाधास्वरूप हुए। जहाँ पर बाधा रहती है, वहाँ पर व्याघातकी भी सम्भावना है।

मुख्यविधिका साक्षात् फल ही भगवत् उपासना है*। विधि और उपासनाके बीचमें गौण फल नहीं है। हरिकीर्तन या हरिकथा-श्रवणको मुख्य विधि कहा जा सकता है। क्योंकि उसमें विधिका साक्षात् फल ही भगवत् उपासना है। हरि भक्ति मुख्य विधि होनेपर भी गौणविधिका अवलम्बन नहीं करने से जीवनका निर्वाह नहीं होगा और जीवननिर्वाह न होनेसे प्राण नहीं रहता। प्राण नहीं रहने से हरिभजन रूपी मुख्य विधिका अनुशीलन कैसे होगा? गौण-विधिका सहज लक्षण यही है कि वह मनुष्यजीवन के अलङ्कार स्वरूप सभी जड़ विद्याएँ, शिल्प और कारीगरी, सभ्यताकी परिपाटी और अध्यवसाय, और शारीरिक मानसिक और सामाजिक नीतियाँ

* नेह यत् कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते ।

न तीर्थपादसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥ (भा० ३।२।३।२२)

को क्रोड़ीभूत कर मनुष्य जीवनको अकपटरूपसे भगवतचरणोंकी सेवामें नियुक्त करें। वस्तुतः मुख्य विधिके अनुचर होकर अपने अधिश्चरकी कृपासे उस चरणामृतके द्वारा मनुष्य जीवनको साधन और फलकालमें परमानन्दमय बनाती है।

वन्यजीवन, सभ्यजीवन, जड़विज्ञानसम्पन्न जीवन, निरीश्वर-नैतिक जीवन, शेश्वर-नैतिक जीवन, वैधभक्त जीवन और प्रेमभक्त-जीवन,—ऐसे नानाप्रकारके नर-जीवन देखे जाने पर भा सेश्वर-नैतिक जीवनसे ही वास्तविक मनुष्य-जीवनका प्रारम्भ होता है। शेश्वर न होनेसे मनुष्य-जीवन (जितना ही सभ्य क्यों न हो, जितना ही जड़विज्ञान सम्पन्न अथवा जितना ही नैतिक क्यों न हो) कभी भी पशु जीवनकी अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं हो सकता। वास्तविक मनुष्य जीवन शेश्वर नैतिक जीवनके विधि निषेधोंको लेकर चलता है। आनन्दन इय मन्थने शेश्वर-नैतिक जीवनमें ही विचार किया गया है। सभ्यता, जड़विज्ञान सम्पत्ति और नीति शेश्वर नैतिक जीवनके प्रधान अलङ्कार हैं। इन सभी अलङ्कारोंके साथ शेश्वर-नैतिक जीवन जिस प्रकारसे भक्त-जीवनमें पर्यवेक्षित होकर साधक बनती है, उसीका दम्य भारे घन्टामें विचार किया गया है। जीवों का जीवन ही जैव-धर्म है। मनुष्य व्यवस्थामें जैव धर्मको मानव या मनुष्य धर्म कहते हैं। वह धर्म दो प्रकारका है—गौण अथवा मुख्य, और साम्बन्धिक या स्वरूपगत। गौण या साम्बन्धिक धर्म जड़ है, और जड़के गुणों और सम्बन्धको आश्रय कर वर्तमान है। मुख्य या स्वरूपगत धर्म शुद्धजीवके आश्रित है। मुख्य धर्म ही यथार्थ जैवधर्म है गौण-धर्म केवल जड़गुणवशतः मुख्य धर्मकी गुणीभूत अवस्था मात्र है। जड़गुणोंके दूर होनेपर जैव धर्म

केवलीभूत होकर मुख्य धर्म होता है। गौणधर्मको सोपाधिक धर्म भी कहा जा सकता है। उपाधिरहित होने पर वही मुख्यधर्म हो जाता है। गौणविधि और गौणनिषेध—अर्थात् पुण्य और पाप-दोनों ही गौणधर्मके अन्तर्गत हैं। गौणधर्म जीवको परित्याग नहीं करता, बल्कि जीवके गुणमुक्त (मायारहित) अवस्थामें मुख्य धर्मके रूपमें बदल जाता है। जड़-बद्धावस्थामें मुख्य धर्मके अनुचित परिणतिसे गौण-धर्मका उदय हुआ है। गौणधर्मके यथार्थ परिणतिके द्वारा मुख्यधर्मका पुनः उदय होता है।

अतएव गौणविधिनिषेध विचारपूर्वक मुख्य-विधिनिषेध और अन्तमें जैवधर्मकी सिद्धावस्था या प्रेम भक्तिका विचार होगा।

इस वृष्टिमें पहले 'ईश्वर' नाम, बादमें 'भगवान्' शब्द और अन्तमें 'कृष्ण' शब्दका व्यवहार किया गया है। पाठकवर्ग यह न समझें कि ईश्वर, भगवान् और कृष्ण भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। कृष्ण ही एकमात्र स्वरूपतत्त्व है और जीवोंके विमल प्रेमके विषय हैं। कृष्ण ही भगवतत्त्वके पूर्ण माधुर्यप्रकाश हैं। जिस समय अन्यान्य तत्त्व या पदार्थके साथ साम्बन्धिक रूपसे कृष्णको विचार किया जाता है, तब उस समय उन्हें ईश्वरके रूपमें देखा जाता है और 'ईश्वर' नाम का व्यवहार किया जा सकता है। इसलिए इस वृष्टि में तीन पदार्थोंकी आलोचनामें 'कृष्ण' नामके स्थान 'ईश्वर' नामका व्यवहार हुआ है। ईश्वर ज्ञान और कुल्ल नहीं है, वह केवल स्वरूप तत्त्व श्रीकृष्णके द्वारा रचित पदार्थ पर उनकी जो स्वभावसिद्ध ईशिता है, उसीका परिचयमात्र है। पदार्थ संख्याके स्थान पर 'ईश्वर' नामका ही सर्वत्र व्यवहार होता है। जैसे— चित्, अचिन् और ईश्वर।

• वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥ (भा० १।२।११)

पत्रिकाके सजन पाठकोंसे नम्र-निवेदन

पाठकोंको यह सूचित किया जाता है कि श्री केशवजी गौड़ीय मठ, मथुरासे प्रकाशित श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिका मुखपत्र हिन्दी मासिक 'श्री भागवत-पत्रिका' अपने निश्चित समय पर प्रकाशित न हो पायी है । अतएव पत्रिकाकी वर्तमान संख्या १० और ११ एकसाथ सम्मिलित रूपमें प्रकाशित हो रही हैं । सम्पादक महोदय माननीय पूज्यपाद श्रीमद् नारायण महाराजकी श्रीगौराविर्भावके शुभ तिथि के उपलक्ष्यमें आयोजित श्रीधाम नवद्वीप परिक्रमामें भाग लेने के कारण एवं उनके एकमास कालव्यापी प्रचार - कार्यमें नियुक्त होनेके कारण पत्रिकाका प्रकाशन कार्य कुछ दिनोंके लिये स्थगित था । सम्पादक महोदयकी अनुपस्थिति, सहायकोंका अभाव तथा मुद्रण सम्बन्धी बहुतसे कठिनाइयोंके कारण पत्रिकाके प्रकाशनमें अत्यधिक विलम्ब हो गया है । वर्तमान संख्या १२ इसके कुछ ही दिनोंके पश्चात् प्रकाशित होगी । विलम्बके लिये पाठकवर्ग हमें क्षमा करें ।

श्रीकुञ्जबिहारी ब्रह्मचारी
(प्रकाशक)

श्रीकृष्णस्वामीदास ब्रह्मचारी
(सह-सम्पादक)

श्रीभागवत-पत्रिकाके सम्बन्धमें वितरण

[फार्म—IV, नियम ६, रेजिस्ट्रेशन ऑफ न्यूजपेपरस् (सेन्ट्रल) रूलस (कानून) के अनुसार]

१. प्रकाशनका स्थान—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा, यू० पी० ।
२. प्रकाशनकी अर्वाध—मासिक ।
३. मुद्रक का नाम—श्रीदेवेन्द्रकुमार ।
राष्ट्रगत सम्बन्ध—हिन्दू (भारतीय) ।
पता—साधन प्रेस, डैम्पियर नगर, मथुरा, यू० पी० ।
४. प्रकाशकका नाम—श्रीकुञ्जबिहारी ।
राष्ट्रगत सम्बन्ध—हिन्दू (सारस्वत गौड़ीय ब्राह्मण) ।
पता—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा, यू० पी० ।
५. सम्पादक का नाम—त्रिदरिडस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिवेदान्त नारायण महाराज ।
राष्ट्रगत सम्बन्ध—हिन्दू (सारस्वत गौड़ीय ब्राह्मण) ।
पता—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा (यू० पी०) ।
६. पत्रिकाके स्वत्वाधिकारी—श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति, की ओरसे उसके प्रतिष्ठाता और नियामक परमहंस स्वामी १०८ श्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज । समिति अनरेजिस्टर्ड है ।

मैं कुञ्जबिहारी ब्रह्मचारी, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारीमें और विश्वास के अनुसार सत्य हैं ।

१५ अप्रैल १९६४

—कुञ्जबिहारी ब्रह्मचारी
प्रकाशकके हस्ताक्षर